(श्री पं० राजमल जी की ढूंढारी भाषा का आधुनिक भाषा रूपान्तर)

समयसार-कलश

(टीका)

रूपान्तरकार :

श्री महेन्द्रसेन जैनी

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रथम संस्करण :
वीर नि० सं० २५०८
वि० सं० २०३८
सन् १९८१

मूल्य : २ रुपये

प्रकाशक :
वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेंसी द्वारा
विन्ध्यवासिनी पैकेजिंग
न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

आभार

समयसार कलश की पं० राजमल जी कृत ढूंढारी भाषा के आधुनिक भाषा-रूपान्तरकार श्री महेन्द्रसेन जैनी का जन्म ३० जनवरी, १९२० को लखनऊ में हुआ था। उच्च शिक्षा संप्राप्ति के पश्चात् आपने सक्रिय जीवन में प्रवेश किया तथा पूर्ण लगन और अनवरत अध्यवसायपूर्वक अपने विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में पूर्ण सफलता प्राप्त की। आप सरिता एवं कारवां नामक पत्रिकाओं में सेक्रेटरी रहे और तत्पश्चात् भारत सरकार के "सैनिक समाचार" नामक पत्र में आपने विज्ञापन प्रबन्धक के पद पर श्लाघनीय कार्य किया। तदनन्तर आपने अनेक वर्ष पर्यन्त भारत सरकार के प्रकाशन विभाग (सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय में सहायक व्यापार प्रबन्धक आदि महत्वपूर्ण पदों पर कार्य किया।

श्री महेन्द्र सेन जैनी

सामाजिक क्षेत्र में भी श्री जैनी ने अनेक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं से सम्बद्ध रह कर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आप जैन समाज की एक मात्र शोध-पीठ वीर सेवा मन्दिर के महासचिव रहे और स्थानीय अनेक संस्थाओं में प्रतिष्ठित पदों पर रहे। साहित्य-साधना के क्षेत्र में भी आपने सराहनीय कार्य किए, कई पुस्तकों का सम्पादन और प्रणयन किया। वे अब हमारे बीच नहीं हैं उनका कैन्सर रोग से दि० ४ सितम्बर ७९ को स्वर्गवास हो गया। वे अन्त समय तक धर्म में सावधान रहे।

समयसार कलश का प्रस्तुत भाषान्तर उनकी आध्यात्मिक रुचि और गुणग्राह्यता का जीता-जागता प्रमाण है। हम इसके लिए उनके आभारी हैं। वीर सेवा मंदिर का यह प्रकाशन पाठकों को लाभप्रद रहेगा।

—महासचिव

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
	प्रस्तावना	१-२८
१.	जीव अधिकार	१
२.	अजीव अधिकार	३५
३.	कर्ता-कर्म अधिकार	४६
४.	पुण्य-पाप एकत्व द्वार	७६
५.	आस्रव अधिकार	६२
६.	संवर अधिकार	१०५
७.	निर्जरा अधिकार	१११
८.	बन्ध अधिकार	१४१
९.	मोक्ष अधिकार	१५५
१०.	शुद्धात्म-द्रव्य अधिकार	१६६
११.	स्याद्वाद अधिकार	२१२
१२.	साध्य-साधक अधिकार	२३४

प्रस्तावना

"देखे को अनदेखा कर रे अनदेखे को देखा"

आज सर्वत्र पीड़ा है, अशान्ति है, हाहाकार है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और उसका हर एक प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिए ही है पर सिवाय दुःख के हासिल उसे कुछ भी नहीं होता और जिसे ये सुख मानकर उसमें ही अटक जाता है वह वास्तव में सुख नहीं क्योंकि जो सुख अपने साथ अपने पीछे-पीछे दुःख को ले आए उसे सुख नहीं कहते। सच्चा सुख तो अपनी आत्मा को अपने रूप देखना, जानना और उस रूप रह जाना ही है पर ज्ञानस्वरूप उस आत्मा को न पहचानकर यह जीव अज्ञानी हुआ इस दुःख सागर में परिभ्रमण कर रहा है। जीव की पीड़ा व दुःख का मूल कारण इसकी अज्ञानता ही है और वह अज्ञानता इसके जीवन के प्रत्येक पहलू में विस्तृत है। अब उसी अज्ञानता के विविध आयामों का विवेचन करते हैं :—

(१) असल भूल यही है कि यह जीव अनन्त गुण वाला चैतन्य तत्त्व, ज्ञान शरीरी है पर इस मूर्तिक जड़ शरीर को, पुद्गल को इसने अपना होना मान लिया है। वह चैतन्य तत्त्व अमूर्तिक है अतः इन जड़ आँखों से नहीं दिख सकता, वह मात्र स्वसंवेदनगम्य है, अपने अनुभव में ही जाना जा सकता है। उसे तो अज्ञानी ने पहचाना नहीं और आँख के माध्यम से जब बाहर झांका तो उसे ये स्थूल शरीर दिखाई दिया और अपने आपको न पहचानने की भूल के कारण उसने इसको ही अपने रूप मान लिया और फिर संसार की बेल बढ़ती ही चली गई। आत्मा व शरीर में भेद तो स्वयं सिद्ध है, वह कुछ इसे करना नहीं, मात्र उसका ज्ञान करना है और वह भेद-ज्ञान कर उस एक अकेले चैतन्य में सर्वस्व स्थापित करना है। जिस रूप ये है नहीं जब उस रूप स्वयं को अनुभव कर सकता है तो उस रूप क्यों नहीं अनुभव कर सकता जिस रूप यह है, अनुभव करने वाला तो ये स्वयं

ही है। जैसी अहंबुद्धि शरीर में है वैसी तो चेतना में होनी चाहिए और जैसी परबुद्धि वस्त्रों में है वैसी इस शरीर में होनी चाहिए। शरीर के स्तर पर तो इसे अनुभूति है, शरीर में अपनी सत्ता की अनुभूति होती है कि मैं हूँ पर यही मैं पना चेतना में से उठना चाहिये क्योंकि ये वास्तव में चैतन्य ही तो है, शरीर तो जड़ है। शरीर के स्तर पर इसे भेदविज्ञान भी है, अपने घर, शरीर, धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि को ही अपना मानता है। किसी दूसरे के को नहीं, पर यही भेदविज्ञान चेतना के स्तर पर होना चाहिए कि अनन्त गुण वाला ये चेतन पदार्थ तो मैं हूँ और ये शरीर एवं बाकी सारे पदार्थ पर है।

(२) जीव की दूसरी अज्ञानता इस मिथ्या मान्यता से सम्बन्धित है कि सुख दुःख पर में से आता है और पर ही मुझे कषाय कराता है। वास्तविक स्थिति यह है कि पर पदार्थ कभी भी सुख-दुःख का कारण होता नहीं सर्वत्र ही जीव के सुख-दुःख का मूल कारण इच्छाओं-विकल्पों का अभाव या सद्भाव ही है। अधिक इच्छाओं वाला प्राणी दुःखी और कम इच्छाओं वाला सुखी देखा जाता है। एक इच्छा की पूर्ति होने पर जो सुख का आभास सा होता है वह सुख वास्तव में उस पर पदार्थ में से नहीं आता जो इच्छा की पूर्ति होने पर मिला है वरन् तत्सम्बन्धी इच्छा का उस समय जो अभाव हुआ है उस अभाव से वह सुख आया है और अभी भी एक इच्छा का ही तो अभाव हुआ है, अन्य अनन्तों तो पंक्ति में खड़ी ही है अतः निरन्तर दुःखी ही है। तथ्य तो यही है पर अज्ञानी उस सुख को इच्छा के अभावजनित नहीं मान कर ऐसी मान्यता करता है कि पर पदार्थ में से यह सुख आया और अपनी इस झूठी मान्यता के कारण वह इन पर पदार्थों को शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, मकान, दुकान आदि को बढ़ाने की सतत धुन में लगा रहता है और इस प्रकार इच्छा करने का प्रयोजन इसके बना रहता है। मायाचारी आदि करके भी इच्छाओं की पूर्ति करने का लोभ इसे निरन्तर बना रहता है और पूर्ति न हो पाने पर क्रोध कषाय व पूर्ति हो जाने पर मान कषाय करता है और इस प्रकार कषाय करने का प्रयोजन भी अज्ञानी के बना रहता है। जीव स्वयं कषाय रूप परिणमन करता है और मानता ये है कि पर ने मुझे कषाय कराई। यह बात इसकी बुद्धि में बैठती नहीं कि जिम्मेवारी सारी मेरी ही है, पर तो मात्र निमित्त था और उसे निमित्त भी मैंने ही बनाया। पर का परिणमन पर के आधीन है, मेरा परिणमन मेरे आधीन है, जब पर को निमित्त बनाकर

मैं अपना परिणमन करता हूं तो उपचार से ऐसा कहा जाता है कि उसने ऐसा कर दिया पर उपचार झूठा ही होता है, मेरा बिगाड़ सुधार 'मेरे ही आधीन है।' पर मुझे सुखी दुःखी कर नहीं सकता, पर मुझे कषाय करा नहीं सकता' ऐसा मानने पर भी पर से बचाव इसीलिए किया जाता है क्योंकि अभी मुझमें आत्मबल की इतनी कमी है कि उसकी मौजूदगी में मैं उसको लक्ष्य करके अपना बिगाड़ कर लेता हूँ जैसे कमजोर आदमी ठण्डी हवा से उसे बुरा जान कर नहीं वरन् अपनी स्वास्थ्य की कमी के कारण ही बचता है।

(३) जीव की तीसरी अज्ञानता पर में इष्ट अनिष्ट कल्पना कर राग द्वेष करना है। यह जीव स्व को भुला कर निरन्तर पर में ही लगा हुआ है। उन पर पदार्थों में जो इसके अनुकूल रहता है उसमें ये इष्ट की कल्पना कर राग कर लेता है और जो प्रतिकूल रहता है उसमें अनिष्ट की कल्पना कर द्वेष कर लेता है। इष्ट अनिष्टपना पदार्थ का कोई गुण धर्म तो है नहीं, मात्र इसके द्वारा की गई कल्पना ही है। यदि इष्ट अनिष्टपना वस्तु का गुण धर्म होता तो कोई एक वस्तु सबको इष्ट ही लगनी चाहिए थी और कोई एक सबको अनिष्ट ही लगनी चाहिए थी। पर सबको इष्ट या अनिष्ट लगने की बात तो जाने दो, एक ही वस्तु एक व्यक्ति को कभी इष्ट लगती है और कभी अनिष्ट। भूख लगी होने पर जो भोजन इतना सुस्वादु और रुचिकर लगता है उसे ही भूख शमन होने पर देखने की भी इच्छा नहीं होती अतः इष्ट अनिष्टपना जीव में से उठने वाली झूठी कल्पनाएँ ही हैं। सर्वत्र हमारे सुख दुःख का या कषाय का कारण वस्तु या स्थिति नहीं वरन् उसमें हमारे द्वारा उठाया गया विकल्प या कल्पना ही है। हम चाहें तो इष्ट का विकल्प उठाकर स्वयं को सुखी मान लें, चाहें तो अनिष्ट का विकल्प उठा कर स्वयं को दुःखी मान लें पर वास्तविक आनन्द तो निर्विकल्प रह जाने में ही है जब चाहे कैसी भी स्थिति हो उसमें हम कोई भी विकल्प न उठाएं और ऐसा हम कर सकते हैं। प्रति समय हमारे मन में कुछ न कुछ चलता रहता है। मन के विकल्पों को भी जानने वाला जो साक्षी आत्मा भीतर है उसकी तो हमें पहचान नहीं और मन को ही हमने अपना होना समझ लिया है। हम पल-पल उलझे हैं या तो भूतकाल में घटी घटनाओं की स्मृति में या भविष्य की कुछ योजनाओं, इच्छाओं व चिन्ताओं मे या फिर अन्य अनेक उल-जलूल बातों के विचार में। ये विचार वा विकल्प किसी भी रूप में तो सार्थक नहीं, वर्तमान में तो ये अशान्ति देकर जाते हैं और भविष्य के लिए

फालतू का कर्म बंध कर जाते हैं। आत्म शान्ति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले हमें विकल्पों की निरर्थकता समझ में आनी चाहिए कि उनके आधीन काम होने का नियम नहीं और साथ ही साथ यह भी कि हमारे द्वारा उठाया गया एक भी विकल्प बेकार नहीं जाता, प्रत्येक की हमें भारी कीमत चुकानी पड़ती है। भूतकाल तो चला गया, वह तो मुर्दा है उसके बारे में हम क्यों सोचें और भविष्य के बारे में विचार भी फालतू हैं क्योंकि कोई भी काम हमारी इच्छा के आधीन होना नहीं, हमारे विकल्पों के आश्रित कुछ भी तो नहीं तो हम मात्र वर्तमान में ही क्यों न रहें। जो कुछ भी वर्तमान में घट रहा है उसे देखते जानते रहें।

(४) चौथी अज्ञान।। पर-पदार्थों में कर्तृत्व बुद्धि की है। है तो यह ज्ञानस्वरूप; ज्ञाता दृष्टा रूप रहने के सिवाय आत्मा कुछ भी तो नहीं कर सकता पर क्योंकि स्वयं को ये पहचानता नहीं, मात्र ज्ञान रूप रहने के अपने कार्य व पुरुषार्थ को जानता नहीं अतः पर्याय में जो कुछ भी घट रहा है उस सबका करने वाला स्वयं को मान लेता है और इस मिथ्या कर्त्ताबुद्धि के कारण इसका सारा पुरुषार्थ ज्ञाता बनने में नहीं वरन् चौबीस घंटे कुछ न कुछ उधेड़ बुन करने में ही लगा रहता है। वस्तु स्थिति यह है कि इसके करने के आधीन कुछ भी नहीं। यदि पर पदार्थों का परिणमन इसके विकल्पों के या इसके करने के ही आश्रित होता तो इसकी सर्वदा ही सारी इच्छाओं की पूर्ति होनी चाहिए थी पर ऐसा होता कभी देखा नहीं गया। कदाचित् कभी इसकी इच्छा और कर्म के वैसे ही उदय का संयोग बैठ जाता है तो ये कहता है कि मैंने किया। अपने करनेपने के विस्तार में इसके ऐसा अनुभव में आता है मानो सारा संसार इसके चलाने से ही चल रहा हो। यदि यह कर्म का कार्य करना छोड़ कर (कर्म का कार्य कर थोड़े ही सकता है ये, मात्र मानता है ऐसा कि 'मैं करता हूँ' तो इस झूठी मान्यता को छोड़ कर) ज्ञाता बन जाए तो भी सारा संसार चलेगा तो अपनी धुरा पर ही, इसको तो खत्म होना नहीं, हाँ, इस अज्ञानी का संसार अवश्य खत्म हो जाए, जन्मों-जन्मों के सारे इसके दुःख आत्यंतिक क्षय को प्राप्त हो जाएं पर यह बात इसकी समझ में बैठती नहीं।

(५) पांचवीं अज्ञानता भगवान को कर्त्ता बनाने की है। अपनी इच्छा के अनुकूल इसे कर्म का कार्य होता दीखता है तो ये कहता है 'मैंने किया' और कदाचित् स्वयं से होता न दीखे, अपनी आशाओं पर पानी फिरता दिखाई दे तो देवी देवताओं को अपने से अधिक शक्तिशाली समझ

उनके पास मन्नत मांगने पहुँच जाता है कि 'मेरा फलां काम कर देना, ये दे देना, वो दे देना।' और तो और वीतराग के मन्दिर में भी इन्हीं संसार शरीर भोगों के अभिप्राय को लेकर पहुँच जाता है और वहां सौदेबाजी करता है—'तुम दस लाख दोगे तो मैं चार छत्र दूंगा।' धारणा वही विपरीत चल रही है तो या तो ये स्वयं को कर्त्ता बनाता है या फिर भगवान को कर्त्ता बना देता है और सोचता है कि भगवान मेरी सारी इच्छाओं की पूर्ति कर देंगे। या फिर इस अज्ञानी की समझ में ये बैठा हुआ है कि यथायोग्य पुण्य के उदय से सारी अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है अतः ये पुण्य-बंध करने के लिए वीतरागी की उपासना करता है और संसार की ही इस रूप में चाह किया करता है, मोक्ष की या मोक्ष सुख की इसे पहचान ही नहीं। संसार शरीर भोगों की प्राप्ति का ही इसका अभिप्राय है और मन्दिर में जा रहा है इस मान्यता को लेकर कि देवी-देवता सुख बांटते हैं अतः सारे देवताओं में इसके समभाव है, किसी को ही पुजवा लो, सुदेव हो, कुदेव हो, धरणेन्द्र पद्मावती हो, चाहे कोई हो।

(६) छठी अज्ञानता वीतरागी देव गुरु शास्त्र के सम्बन्ध में है। यदि जीव को कभी सच्चे देव गुरु शास्त्र की प्राप्ति भी हुई और मोक्ष प्राप्ति का इसका ध्येय भी बना तो ये देव गुरु शास्त्र में ही अटक गया, वहाँ भी इसकी अज्ञानता छिपी नहीं रही। आचार्यों ने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया। अपने को अपने रूप, ज्ञाता दृष्टा रूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, अपने रूप जानना सम्यग्ज्ञान और ज्ञाता दृष्टा रूप रह जाना ही सम्यक्चारित्र है और यही मोक्षमार्ग है एवं वीतरागी देव गुरु शास्त्र उस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में निमित्त या माध्यम पड़ते हैं। देव दर्शन के माध्यम से भी जीव को आत्मदर्शन करना था, गुरु दर्शन से भी आत्मदर्शन करना था और शास्त्रकेद्वारा भी अपनी आत्मा का स्वरूप समझ कर उस आत्मा को अपने भीतर खोजना था पर अज्ञानी ने देव दर्शन, पूजन, भक्ति कर उन पर श्रद्धान करने से अपने आपको सम्यग्दृष्टि मान लिया, शास्त्र ज्ञान से अपने आपको सम्यग्ज्ञानी मान लिया और गुरु की बाहिरी पुण्य क्रियाओं—व्रत तप उपवास आदि को ही मोक्षमार्ग मान उन्हें अपना कर उनसे स्वयं को सम्यक्चारित्री मान लिया पर असली मोक्षमार्ग की खोज नहीं की। शास्त्रों का इसने खूब अध्ययन किया उनमें यह भी तो कथन आया है 'कि द्रव्यलिंगी मुनि के सच्चे देव शास्त्र गुरु के मानने पर भी, ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का अध्ययन कर लेने पर भी व शुभ क्रियाओं को

करने व परीषह को सहने की पराकाष्ठा होने पर भी मोक्षमार्ग नहीं हुआ अतः मोक्षमार्ग कुछ और ही है' इस कथन पर इसने ध्यान ही नहीं दिया। शास्त्रों में देव गुरु शास्त्र की भक्ति व स्वाध्याय को शुभ राग व पुण्य बंध का और बंध को संसार का कारण बताया गया है और आत्मदर्शन को संवर निर्जरा का व संवर निर्जरा को मोक्ष का कारण बताया गया है पर अज्ञानी ने पूजन भक्ति व स्वाध्याय से ही मोक्ष मान लिया और इस रूप में बंध को ही संवर निर्जरा मान कर तत्वों का सही श्रद्धान नहीं किया एवं शुभ राग में ही धर्म मान कर आचार्यों के अभिप्राय की ओर दृष्टिपात नहीं किया। आचार्यों ने देव गुरु शास्त्र के श्रद्धान को कहीं सम्यक्त्व कहा भी है तो वहाँ उस कथन को ठीक से समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व तो निश्चय से आत्मदर्शन ही है पर देवगुरु शास्त्र क्योंकि उस आत्मदर्शन में निमित्त पड़ते हैं अतः उन्हें भी व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है और निमित्त भी वे हमारे लिए तो तब बनेंगे जब हम उन्हें निमित्त बनाएंगे। शास्त्रों में विवक्षा भेद से अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं अतः उन्हें ठीक प्रकार से समझ कर बुद्धि में अच्छी तरह बैठा लेना चाहिए कि कहाँ कौन सी विवक्षा से क्या कहा गया है। भगवान आचार्यों ने ग्रन्थों में वर्णन किया है कि शरीर व आत्मा अलग-अलग हैं पर हमें क्या दिखाई देता है। शास्त्रों में तो आचार्यों का अपने जीवन का अनुभव लिखा है और उनका अनुभव पढ़ना हमारे लिए इसी रूप में कार्यकारी है कि वह हमारा भी अनुभव बने। जब वह हमारे जीवन का अनुभव बनेगा तभी हमारी पर पदार्थ की पकड़ छूटेगी। जीवन में परिवर्तन तो जो हमें दिखाई देता है उससे होगा न कि जो उनको दिखाई देता है उससे। जो उनको दिखाई देता है वह तो हमारे लिए गवाही बन सकती है।

इस प्रकार इस अज्ञानी की अज्ञानता का विस्तार सब ओर फैला हुआ है और स्व को न पहचान कर शरीर व पर पदार्थों को ही ये अपने रूप देख जान रहा है।

पांच लब्धि—अपने स्वरूप की जीव को खबर नहीं, सच्चे देव शास्त्र गुरु के स्वरूप की इसे पहचान नहीं, उनको पूजने के प्रयोजन का इसे विचार नहीं। सबसे पहले तो अपने प्रयोजन को ठीक करने पर दृष्टि होनी चाहिए। संसार से वैराग्य पैदा हो, उसमें आकुलता ही प्रतिभासित हो और मोक्ष सुख की चाह पैदा हो। मोक्ष सुख की इच्छा उत्पन्न होगी तो आत्म तत्त्व को जानने की ओर इसका पुरुषार्थ झुकेगा और तब सच्चे देव गुरु शास्त्र का

पता लगाएगा कि कहाँ से मुझे तत्त्व मिल सकता है और उनका निर्णय कर उन्हें भी आत्मा को जानने व पहचानने का ही माध्यम बनाएगा। सच्चे देव गुरु शास्त्र का निमित्त भी बड़े भाग्य से कभी कदाचित् किसी जीव को मिलता है और उसके मिलने के बाद भी आत्मदर्शन का पुरुषार्थ कर आत्म अनुभव कर लेना और भी साहस का काम है, तीव्र रुचि चाहिए उसके लिए। पर इतना क्षयोपशम है प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय जीव के पास, ज्ञान शक्ति का उघाड़ है इतना कि वह स्वयं को देख जान सके। शक्ति का उघाड़ तो उतना ही है अब चाहे इसे भोगों में लगा दो चाहे स्वभाव में लगा दो, चुनाव करने में ये स्वतंत्र है, यदि इसने इस शक्ति का सदुपयोग न कर इसे भोगों में लगा दिया तो वह घटते-घटते अक्षर के अनंतवें भाग रह जाएगी और ये अपने चिर परिचित स्थान निगोद में पहुँच जाएगा और इस शक्ति का सही उपयोग कर उसे यदि स्वभाव में लगा दिया तो वही शक्ति बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान तक पहुँच जाएगी। जैसे किसी के पास एक लाख रुपया है, अब वह उसे कहां लगाए यह उसकी स्वतंत्रता है, यदि उसने सही चुनाव कर उसे ठीक व्यापार में लगाया तो वह एक लाख से बढ़ता हुआ करोड़ों तक पहुँच जाता है अन्यथा एक लाख भी कम होते-होते नहीं के माफिक रह जाता है।

अब जीव में शक्ति का सदुपयोग करने की सद्बुद्धि जाग्रत हो, कषायों की मंदता बने, परिणामों में विशुद्धिलब्धि की प्राप्ति हो एवं स्व की खोज की जिज्ञासा इसमें पैदा हो—कि अनादिकाल से इस शरीर को अपनाकर मैं संसार में दुःखों ही दुखों का पात्र बनता रहा हूँ। जन्म के समय मैं इसे अपने साथ लाया नहीं था और मरण के समय ये यहीं पड़ा रह जाएगा तो ऐसा लगता है कि मैं इस रूप नहीं। ये जड़ मुझसे कोई जुदा ही पदार्थ है और मैं चेतन जाति का हूँ। अहो ! मैंने बड़ी गल्ती की जो आज तक इसे अपना मानता रहा। इसको अपना कर मैंने क्या-क्या पाप नहीं किए, अभक्ष्य भक्षण किया, अन्याय रूप आचरण किया। अब मैं कैसे स्व तत्त्व को समझूं, कहाँ जाऊं ?' ऐसी पात्रता जब यह जीव पैदा करता है, ऐसी प्यास जब उत्पन्न होती है तो बरसात को आना ही पड़ेगा। कहते हैं जब राजस्थान में धरती बुरी तरह प्यासी हो जाती है तब फट जाती है, अर्थात् वह प्यास के मारे अपना मुंह खोल देती है उस समय वर्षा अवश्य होती ही है उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा पात्र जब तैयार होता है तो कहीं विपुलाचल से मेघ गर्जना होनी ही पड़ती है। पात्र ही वर्षा को नहीं खोजता कभी वर्षा

भी पात्र को खोज लेनी है। भगवान सर्वज्ञ कहते हैं—'तू अपने पात्र को सीधा तो कर, वर्षा आएगी, जरूर आएगी। अगर पात्र ही उल्टा रखा हो तो बरसात भी क्या करेगी आकर, वह आई हुई भी नहीं आने के माफिक है और यदि तेरा पात्र सीधा हो तो देशनालब्धि की प्राप्ति तुझे अवश्य होगी, अवश्य ही कहीं किसी कुन्दकुन्द की दया को बहना ही होगा कि यह मौका मत चूक जाना, यह चूक गया तो अनंत संसार में रुलना पड़ेगा। अब तो स्वभाव को देख, ज्ञान के उस अखण्ड पिण्ड को देख जो वास्तव में तू है। वर्तमान में तुझमें इतनी शक्ति है, गृहस्थी में रहते हुए भी तू स्वयं को उस भगवान आत्मा को आँख से नहीं, इन्द्रियों से नहीं, स्वयं से ही देख सकता है। अपने को अपने रूप देखना गृह त्याग की या किसी निर्जन सुनसान वन की अपेक्षा नहीं रखता। अभी इसी समय, इसी परिस्थिति में, इसी क्षण में तू उस अप्रतिम आनन्द को प्राप्त हो सकता है उस चैतन्य का अनुभव कर सकता है और यही वास्तव में धर्म है। धर्म के साथ कोई ऐसी बात नहीं कि आज करो और फल चार दिन बाद मिलेगा। धर्म रूप तो तुम अभी हो जाओ और अभी शान्ति को प्राप्त कर लो। देख, कहीं एक समय भी, एक क्षण भी, व्यर्थ न चला जाए। वह कहीं बाहर नहीं, तू ही है इसलिए तू उसे पा सकता है। वह इन चर्म चक्षुओं से नहीं दीखेगा, उसे देखने के लिए तो भीतर की आँख तुझे खोलनी ही होगी। भीतरी आँख खोलने पर तुझे ज्ञान रूपी समुद्र स्वयं को आह्वान करता हुआ प्रतीत होगा कि आओ। मुझमें मग्न हो जाओ अनंत काल से भीषण गर्मी में संतप्त हुए तुम घूम रहे थे और मुझे तुमने पाया नहीं, अब तुमने बड़े यत्न से मुझे पाया, देखने क्या हो दूर से लगा लो डुबकी डूब जाओ इस आनन्द के, ज्ञान के सागर मुझमें। जैसे कोई स्वच्छ निर्मल जल से भरा हुआ तालाब हो और अत्यंत गर्मी में झुलसा हुआ कोई आदमी वहाँ आए और उसकी शीतलता, स्वच्छता व निर्मलता को देखकर अनायास ही उसके मुंह से निकल पड़े—अरे! ये तो मुझे बुला ही रहा है स्नान कर अपना ताप बुझाने के लिए।' इसी प्रकार आचार्य कुंद कुंद कह रहे हैं कि इस अमूल्य अवसर को खो मत देना। कहीं पुण्य के फल में आसक्त मत हो जाना। यह सबसे बड़ा धोखा है जो व्यक्ति स्वयं को दे लिया करता है, इसे तूने अनंत बार भोगा है, ज्ञानियों ने, चक्रवर्तियों ने इसे पाप समझ कर छोड़ा है। यह मौका तेरे हाथ आया है, 'कथमपि मृत्वा' किसी प्रकार से मर कर भी

उस तत्त्व की प्राप्ति कर ले, अगले जन्म पर छोड़ेगा तो अनंत जन्म लेने पड़ेंगे, ज्ञानी की श्रद्धा में एक भी भव नहीं, वह एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता, असमर्थता से चाहे अनेक जन्म धारण करने पड़े।

इस प्रकार आ० कुंदकुंद व अमृतचंद्र के समान किसी ज्ञानी की ऐसी दिव्य देशना को सुन कर यदि इसे यह समझ में आए कि आज तक मैंने बड़ी भूल की थी जो संसार शरीर भोगों की तरफ तो मुंह किया हुआ था और भगवान आत्मा को पीठ दी हुई थी और परमात्मा बनने का ये निर्णय कर अपनी तत्त्व सम्बन्धी रुचि में तीव्रता लाए तो कषायों में और मंदता पड़, प्रायोग्यलब्धि की प्राप्ति हो और फिर इसका आत्मा के अनुभव का पुरुषार्थ जाग्रत हो। यहाँ तक चार लब्धि हुई, पांचवीं करणलब्धि तो तब होगी जब यह अपने को अपने में खोजेगा तब स्वानुभव होगा स्वानुभव ही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही मोक्ष का मार्ग है, वही सब कुछ है।

जीव का कैसे वह सौभाग्य जगे ? कैसे इसको स्वानुभव हो ? इसका मार्ग यही है कि कोई आत्मानुभवी गुरु यदि सुलभ हो तो उसके उपदेश से सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व को जान कर (गुरु होना चाहिए अनुभवी हो। क्योंकि जो स्वयं उस मार्ग न गया हो वह दूसरे को मार्ग क्या दिखाएगा) और यदि ऐसा गुरु प्राप्त न हो तो स्वयं ही अध्यात्म ग्रंथों का खूब अभ्यास कर उनसे आत्मा के बारे में जान कर अपने भीतर यह आत्मा को देखे। गुरु की इस सम्बन्ध में बड़ी महत्ता है क्योंकि वह जीवंत शास्त्र है, कहीं भी कुछ छोटी सी भी भूल या रुकावट यदि है तो वह हाथ पकड़ कर झट रोक देगा, पर फिर भी ऐसा गुरु यदि उपलब्ध न हो पाए तो भ० कुंदकुंद की वाणी का तो जीव को सहारा है ही। आत्मा के बारे में पूरी जानकारी अध्यात्म ग्रंथों से हो जाएगी और स्वानुभूति का तरीका भी इसे ज्ञात हो जाएगा वह इसकी बुद्धि में खूब अच्छी तरह बैठ जाए कि वस्तु तत्त्व यही है, इसी प्रकार है, दूसरा नहीं है और दूसरा प्रकार हो भी नहीं सकता फिर उसके बाद ये अपने अन्दर ही जहाँ वह है उस चैतन्य को देखने का पुरुषार्थ करे, वह देवों का देव इसके भीतर ही विराज रहा है, कहीं बाहर नहीं मिलेगा, भीतर ही ये देखे, उसे ढूंढे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि वहाँ वह आप है ही। दो बातों का ज्ञान तो इसे दिया जा सकता है—आत्मा के बारे में ज्ञान एवं स्वानुभव के मार्ग का ज्ञान, पर अनुभव का पुरुषार्थ इसे स्वयमेव ही करना है।

आत्मा के बारे में जानकारी—

संसार में मुख्य दो द्रव्य हैं जीव व पुद्गल। जीव अनन्त है, पुद्गल अनन्तानन्त हैं। अनादि काल से जीव के साथ द्रव्य कर्म का संयोग पाया जाता है और उस द्रव्य कर्म के उदय से आत्मा के साथ शरीर का व उससे सम्बन्धित अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है। यह जीव स्वयं को एक अमूर्तिक चैतन्य न पहचान कर शरीर व पर पदार्थ रूप अपने को मान लेता है तो अनेक प्रकार की इच्छाओं का इसमें जन्म होता है क्योंकि आत्मा तो एक त्रिकाली नित्य और ध्रुव द्रव्य है पर शरीर के साथ रोग, जन्म जरा, मरण, भूख प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की अनेक समस्याएँ हैं और उन भूख प्यास आदि के शमन के लिए जीव अनेक इच्छाएँ उठाता है। फिर उन इच्छाओं की पूर्ति में जो कुछ भी सहकारी होता है उसमें यह राग और जो कुछ प्रतिकूल पड़ता है उसमें यह द्वेष कर लेता है अतः राग द्वेष आदि अनेक विकारी भाव भी आत्मा में पाए जाते हैं। इस प्रकार अनादि काल से ही जीव के साथ द्रव्यकर्म व उस द्रव्यकर्म के उदय के कारण राग द्वेष आदि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्म और शरीर से सम्बन्धित अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग पाया जाता है। बाहर में चेतन अचेतन पदार्थों का संयोग अपने-अपने पाप-पुण्य के उदय के अनुसार शुभ व अशुभ होता है, शरीर की क्रिया भी शुभ व अशुभ होती है और भाव भी शुभ अशुभ दो तरह के होते हैं पर यह सारा काम द्रव्य कर्म के उदय का है, यह समस्त कर्मधारा है इसमें चेतना का अपना कुछ भी तो नहीं। चेतन ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है पर ज्ञान गुण उसमें मुख्य है क्योंकि वह ज्ञान गुण स्व-पर प्रकाशक है अतः चेतन ज्ञाता मात्र है और उसका काम मात्र जानने देखने का है। यह ज्ञानधारा चल रही है प्रत्येक व्यक्ति में पर ज्ञान स्वयं को पहचानता नहीं, किसी निद्रा में है, मूर्छित है और गहला होकर कर्मधारा में अपनापन मान लेता है। परन्तु कर्मधारा में अर्थात् शुभ अशुभ आदि विभाव और शरीर में अपनापन मानते हुए भी ज्ञान रूप चैतन्य कभी भी राग-द्वेष रूप या शरीर रूप नहीं होता, सदैव चैतन्य ही बना रहता है जैसे घी के साथ मिट्टी मिली हुई है और अब उसको आपने गर्म कर दिया। मिट्टी से मिला होने पर भी घी तो घी ही है, मिट्टी अलग द्रव्य है और घी अलग एवं गर्म होते हुए भी वह घी अपने स्वभाव में अर्थात् चिकनेपने में ही विद्यमान है। गरमपने के अभाव में भी चिकनेपने की अर्थात् घी की उपलब्धि

है पर चिकनेपने के अभाव में घी की उपलब्धि नहीं अतः चिकनापना ही घी का सर्वस्व है और घी में गर्मी स्वयं से नहीं आई वरन् अग्निजन्य है। यहाँ दार्ष्टान्त में मिट्टी के स्थान पर शरीर, चिकनेपने के स्थान में चैतन्यपना, गर्मी के स्थान में भावकर्म व अग्नि के स्थान में द्रव्यकर्म है। मिट्टी और घी के समान शरीर व चैतन्य मिलकर एक से भास रहे हैं पर हैं वे पृथक्-पृथक् द्रव्य और गर्म घी के समान चैतन्य भी राग-द्वेष आदि भावकर्मों से तप्तायमान हो रहा है पर ये सारे विकारी भाव हैं, चेतना के अपने नहीं, द्रव्यकर्म जन्य है, द्रव्य कर्म के उदय से आत्मा में हुए हैं अतः पर ही हैं।

चीज वहाँ दोनों हैं ज्ञान भी है कर्म भी और देखने वाला यह स्वयं है, इसे स्वयं ही चुनाव करना है कि मैं अपने आपको ज्ञान रूप देखूं या कर्म व उसके फल रूप। अपने को पर रूप देखना तो संसार, देखना-पढ़ना नहीं, सुनना नहीं, कहना नहीं, मात्र देखना। जोर देखने पर है और अपने को अपने रूप देखना सो मोक्ष। अपने को अपने रूप देखना ही मोक्षस्वरूप है, मोक्ष का मार्ग है, सम्यग्दर्शन है, स्वानुभूति है। पर से हटना है, अपने में आना है अपने में आना है, पर से हटना है। जब तक ज्ञान मूर्छित अवस्था में है, मूर्छित अवस्था का तात्पर्य है कि जैसे मतवाला स्वयं को और अपने घर को नहीं जानता और किसी पर मे अपनापना मान लेता है वैसे ही यह भी किसी पर में—शरीर में, पुण्य पाप के उदय में या शुभ अशुभ भाव में अपनापना, अहंपना मान लेता है—यह मैं और ये मेरा और मैं इनका कर्त्ता और अशुभ क्रिया व भाव को शुभ क्रिया व भाव में पलटने को ही ये अपना पुरुषार्थ समझता है, इसी को मोक्षमार्ग मान लेता है, कभी ज्ञान को जागृत करने का पुरुषार्थ किया नहीं। ज्ञान के जागृत होने का सम्बन्ध न तो शुभ अशुभ भावों से है न शुभ अशुभ क्रिया से है और न ही क्षायोपशमिक ज्ञान को अर्थात् पर्याय में ज्ञानशक्ति के उघाड़ को बढ़ाने से ही है। अतः सम्यग्दर्शन के लिए शुभ भावों का, शुभ क्रिया का व क्षायोपशमिक ज्ञान को बढ़ाने का पुरुषार्थ सही नहीं है। ज्ञान को जागृत करने के लिए तो इसे भीतर में जानने वाले को पकड़ना होगा। शुभ अशुभ भावों व क्रिया में अपनापना न होकर उस जानने वाले में अपनापना, स्वामित्वपना, कर्त्तापना, एकत्वपना आवे तो शुभ अशुभ भाव करने का मिथ्या अहंकार नष्ट हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो।

प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समय तीन क्रिया हो रही हैं—शरीर की शुभ

या अशुभ क्रिया, परिणामों की शुभ या अशुभ क्रिया और एक ज्ञान की, जानने की क्रिया। क्योंकि जानने की क्रिया इसके पकड़ में नहीं आ रही है और शरीर व परिणामों की पकड़ में आ रही है इसीलिए ये स्वयं को शरीर या परिणाम रूप ही समझ लेता है पर जानने की क्रिया हो रही है प्रति समय। शरीर की कैसी भी स्थिति हो उसका जाननपना हो रहा है ! तभी तो ये कह सकता है कि कुछ देर पहले मैं इस रूप में बैठा था। जिस समय उस रूप में शरीर की बैठने की क्रिया हो रही थी उसी समय वो जानने वाला उसे जानता जा रहा था, शरीर की क्रिया व जानने की क्रिया में समय भेद नहीं। इसी प्रकार परिणामों की भी चाहे कोई अवस्था हो उसका जाननपना भी उसी समय साथ-साथ होता जा रहा है। कोई है वहां पर जो सतत जानता जा रहा है कि अभी क्रोध रूप परिणाम थे और अब क्रोध रूप परिणाम नहीं हैं। पूछने पर ये बताता भी है, इसका अर्थ है कि इन सबको जानने वाला कोई वहां जरूर होना चाहिए। क्रोध के सद्भाव में उस जानने वाले ने क्रोध को जाना और उसके चले जाने पर वो अब क्रोध के अभाव को जान रहा है। वह जानने वाला सतत एक रूप से जो कुछ भी परिणमन हो रहा है उसको जान रहा है, जानता जा रहा है। उसका काम मात्र जानने का है। कर्म का फल बदल रहा है पर वह जान रहा है, जानने वाला नहीं बदल रहा है पर वह जन्म को भी जान रहा है और मृत्यु को भी जान रहा है और स्वयं न मरता है न जीता है। यह अवस्था, यह जानपना सभी में है पर जानने वाला स्वयं को नहीं देख रहा है। अन्य जो ज्ञेय पदार्थ, अपना विकारी परिणमन, शरीर की क्रिया और शरीर के साथ संयोग—ये सब ज्ञेय हैं और वह ज्ञाता है। ज्ञाता का कार्य हो रहा है, नहीं तो इन सबको कौन जान सकता था ? दो है वहां पर, ज्ञान व कर्म साथ-साथ चल रहे हैं। हर समय सोते-जागते—एक वह है जो सो रहा है एक उसका जानने वाला है, एक वह है जो खा रहा है, चल रहा है, देख रहा है, रो रहा है, देख रहा है और एक वह है जो खाते हुए भी खाता नहीं, चलते हुए भी चलता नहीं रोते हुए भी रोता नहीं, क्रोधादि होते हुए भी क्रोधी नहीं होता, दुःख होते हुए दुःखी नहीं होता, सुख होते हुए सुखी नहीं होता, परन्तु सबको मात्र जान रहा है। अब इन दोनों में से जीव को यह निर्णय करना है कि मैं कौन ? क्योंकि आत्मा नित्य है अतः मैं जानने वाला ही हो सकता हूँ और ये सारे परिणमन अनित्य हैं निरन्तर बदलते जा रहे हैं अतः मैं वे नहीं हूँ। यदि मैं इन रूप होता तो

इनके नाश के साथ मेरा नाश हो जाना चाहिए था पर मेरी सत्ता इनके विनष्ट होने पर भी बनी हुई है अतः इन रूप में कैसे हो सकता हूँ।

इस प्रकार पहले तो ये दिवरप में निश्चित करें कि मैं तो जानने वाला और बाकी सब पर और ऐसे निर्णय के बाद अब उस जानने वाले में जहां कि वह है, अपने भीतर- उसमें अपनी सत्ता की अनुभूति करनी है।

स्वानुभव के मार्ग का ज्ञान

प्रश्न होता है कि ऐसी अनुभूति कैसे हो ? बड़ी कठिनाई आती है। यहीं पर कि जो कुछ भी निःशब्द में जाना गया है उसे शब्द में कैसे कहें, जो स्वयं निर्विकल्प रूप है उसे विकल्प में कैसे कहें ? पर फिर भी उसकी प्राप्ति के उपाय को कहने का कुछ साहस किया जाता है। हममें मन के विचारों की, श्वास की, वचन की व काय की जो भी क्रिया प्रतिसमय होती जा रही है, चेतना उसकी साक्षीभूत बनी उसे निरन्तर देखती जा रही है पर विचारों आदि को हमने अपना होना समझ लिया है और उस साक्षी को हम पहचानते नहीं अतः आत्म अनुभव के लिए उस साक्षी का अभ्यास ही अपेक्षित है। साक्षी का अर्थ है दर्शन अर्थात् बिना सोचे देखना। साक्षी है निर्विचार-दशा। जहां मात्र देखना है तो अपने विचारों के या श्वास के या मंत्र वा पूजा का उच्चारण कर उसके साक्षी बन हम अपने चैतन्य में अपनी सत्ता की अनुभूति कर सकते हैं।

मन साक्षी— हमारी जितनी भी आत्म-शक्ति है वह थोड़ी तो शरीर की क्रिया में व्यय हो रही है या कुछ न कुछ बोलने में और अधिक शक्ति मन के द्वारा विचार करने में जा रही है। जो भी शक्ति वाणी या मन में जा रही है उसे ही समेट कर ज्ञाता में, उस जानने वाले में लगानी है। तो एक उपाय है कि मन में कुछ भी भाव चल रहे हैं हम उनको देखना चालू करें। शक्ति वह एक ही है तो जब तक मन के विचार विकल्प चल रहे हैं तब तक ज्ञातापन नहीं और जब वही शक्ति ज्ञाता में लग जाएगी तो विचारों को बंद होना ही पड़ेगा। ये जो विचार हैं ये ही दिन के स्वप्न हैं, ये आंख खोले चलते हैं और रात वाले आंख बंद करने पर चलते हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं। इन विचारों की कोई कीमत नहीं, फालतू है। स्वप्न को जैसे जागकर फालतू समझा जाता है वैसे ही ये विचार बेकार हैं परन्तु इनके होने की कीमत चुकानी पड़ती है। विचार आता है और चला जाता है पर चेतना पर संस्कारों के रूप में अपनी छाप छोड़ जाता है। वे संस्कार भविष्य में फिर

उभरते हैं और फिर चेतना उस रूप में परिमन करती है अतः मन जब तक है तब तक दुःख है, मन जब तक है तब तक नरक है, अब मन का आश्रय छोड़ो, मन की खिड़की से हटो—यही ध्यान का अर्थ है। मन से हटे कि निर्विकार हुए। ध्यान में बैठो और विचारों को देखते जाओ, देखते जाओ, चाहे शुभ विचार हो या अशुभ – उसका कोई भी विरोध न करो कि ऐसा क्यों उठा और ऐसा क्यों नहीं उठा, तुम्हारा काम है मात्र जानना, उस जाननपने पर जोर देते जाओ, तुम उन विचारों को न तो करने वाले हो, न रोकने वाले, तुम तो उन्हें मात्र जानने वाले हो, अपना काम किए जाओ। तुम मन नहीं, तुम देह नहीं, जरा भीतर सरक जाओ और देखते रहो। मन को कहो—'जहां जाना हो जा, जो विचार उठाने हैं उठा, हम तो बैठकर तेरे को देखेंगे।' जैसे ही यह कह कर देखना चालू किया तुम पाओगे कि मन सरकता ही नहीं। तुम करके देखना, आज ही करके देखना, यह मन अब अन्तिम विकल्प उठाएगा कि छोड़ न, किसमें लग गया तू, पहले ही ठीक था, सब बातें झूठी हैं। पर तुम्हें इस मन से ऊपर उठना है। अगर तुमने धैर्य रखा और देखते ही गए तो तुम पाओगे कि कभी-कभी कुछ होने लगा, बरसात की फुहार का झोंका आया, एक क्षण के लिए शून्य हो जाता है, निर्विचार हो जाना है। अगर ऐसा हुआ तो चाबी मिल गई कि निर्विचार हुआ जा सकता है और जो एक क्षण के लिए हो सकता है वह एक मिनट के लिए, एक घण्टे के लिए, एक दिन के लिए व हमेशा के लिए क्यों नहीं ? पहले बूंद-बूंद बरसेगा फिर एक दिन तूफान आ जाएगा, बाढ़ आ जाएगी। तब क्या होगा ? वह होगा जो आज तक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर कोई जागा हुआ है, बाहर में सोए हुए भी वह जागा मालूम होगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला दिखाई देगा, बाहर में सारी क्रिया होगी पर उसमें कुछ भी होता मालूम न होगा। जिसकी मौजूदगी में तुम शान्त होने लगो, जब चश्मे की तरह मन को उतार कर अलग रखा जाने लगे, जो विचारों से बार-बार हटाकर तुम्हें भीतर पहुंचाने लगे वही साक्षी भाव है।

साक्षी की गैर मौजूदगी ही मन है। जब साक्षी सोता है तो मन अपना काम करता है। जहाँ तुम जगे सावधान हुए, साक्षी बने वैसे ही पाओगे कि मन गया। तुम्हारा संसार तुम्हारे मन में है, साक्षी हुए, मन गायब हो जाता है। मेटोगे किसको ! जब तुम हो तब वह नहीं और जब वह है तब तुम नहीं। जब तक मन के विचारों में तुम्हें रस आ रहा है,

उनकी ओर तुमने मुंह कर रखा है तब तक तुम्हें रस आ रहा है तब तक ही उन्हें बल मिल रहा है, जैसे ही तुमने मन से पीठ की वैसे ही तुम उस साक्षी के, आत्मा के सन्मुख हो जाओगे, सारे विचार विकल्प गायब हो जाएँगे, सब शून्य हो जाएगा और मात्र एक जानने वाला रह जाएगा, तभी अपना दर्शन होगा।

मंत्र व श्वास साक्षी— णमोकार मंत्र का उच्चारण करो और अपने ही कानों से सुनो। जहाँ मन और कहीं गया, सुनना बंद हो जाएगा। बार-बार सुनने की चेष्टा करो। अगर कुछ देर तक सुनना चालू रहा तो बोलना मंद होने लगेगा, उपयोग मे स्थिरता आने लगेगी, विचार जो भीतर में चलते थे रुक जाएंगे, मात्र मंत्र का बोलना और सुनना चालू रहेगा। चेतना की शक्ति सुनने में लगेगी तो बोलने में कम होने लगेगी, बोलना सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर जीभ हिलनी भी बंद हो जाएगी परन्तु मंत्र का उच्चारण अंतर में चलेगा और सुनना भी अंतर में चालू रहेगा। इससे आगे बढ़ोगे तो मंत्र रुक जाएगा और श्वास का आना-जाना जो अभी तक कभी अनुभव में नहीं आया था, मालूम होने लगेगा परन्तु तुम श्वास लेने वाले मत बन जाना, श्वास का जानने वाले ही रहना। काफी दिन तक इसका अभ्यास चालू रखना होगा। निरन्तर अभ्यास करते रहोगे तो शांति मिलने लगेगी, परमात्मा के आनन्द का झोंका आने लगेगा, सागर तो अभी नहीं दिखा परन्तु ठण्डी हवा तो लगने लगेगी, रस आने लगेगा परन्तु रुकना मत, कुछ होने वाला है, पानी से भरे हुए बादल आ गए हैं, बस अब थोड़ी ही देरी है, बाहर से हट गए, इन्द्रिय के विषयों से हट गए, इन्द्रियों से हट गए, मन से हट गए अब श्वास पर आकर रुके हैं। जहाँ ज्ञाता पर जरा जोर पड़ा कि श्वास से हटे और तब मात्र एक अकेला वह चैतन्य अनुभव में आता है।

पूजा व स्तुति साक्षी—पूजा करो और सुनने की चेष्टा करो, स्तुति बोलते हुए उसे सुनने की चेष्टा करो। सुनने की चेष्टा करने पर मन का व्यापार रुकेगा। मन द्वारा जो शक्ति फालतू की बातें सोचने में जाती थी वही सुनने में लग जाएगी। बाहर में पूजा व स्तुति चल रही है और भीतर में उसका जाननपना चल रहा है, चलता जा रहा है, इन दोनों क्रियाओं के बीच में। क्योंकि मन के कोई विचार विकल्प नहीं रहते अतः शांति का अनुभव होता है। जानने वाले पर यदि जोर देते जाओगे तो पूजा व स्तुति का बोलना मंद होता होता एक समय बन्द हो जायेगा और तब मात्र एक अकेला चैतन्य तुम्हारे अनुभव में आ जायेगा, वहाँ शरीर नहीं, कर्म नहीं, कोई

शब्द नहीं, कोई विकल्प नहीं, राग-द्वेषादि कुछ नहीं, कोई मैं नहीं, मात्र एक अकेला वह चैतन्य अपनी निराली महिमा को लिए विराज रहा है।

इस प्रकार किसी भी क्रिया का माध्यम बना उसका साक्षी बनते-बनते जीव को अनुभूति जाग्रत होती है और तब इसे पता चलता है कि अरे ! मैं तो यह जानने वाला था, आज तक मैं कैसा मतवाला गहला हो रहा था जो मैंने सबको जाना, जानने वाला जो है उसको ही नहीं जाना था, स्वयं को जाना ही नहीं था, यह तो प्रत्यक्ष ही था पर मेरे न देखने के कारण यह आवृत था। जैसे कोई स्वप्न में उठकर अपने दुःख को खो बैठता है वैसे ही यह जाग जाता है और इसकी अनादिकालीन दरिद्रता समाप्त हो जाती है। साक्षी भाव ही एक ऐसा उपाय है जिससे कषाय हटती है, इन्द्रियों की आधीनता समाप्त होती है, जो अपना है वह रह जाता है और जो अपना नहीं वह जाने लगता है। उस अनुभव में जो आनन्द प्राप्त होता है वह कहने की वस्तु नहीं, वह तो गूंगे का गुड़ है। गूंगे को गुड़ का स्वाद तो प्रत्यक्ष ही आया है पर वह उसे जिह्वा से बता नहीं सकता। और ऐसा अनुभव इस क्षेत्र में, इस काल में बालक, जवान, वृद्ध, स्त्री व पुरुष सभी के घर में रहते हुए भी हो सकता है और तो और पशु के भी हो सकता है और इस अनुभव के बाद वह पशु भी ज्ञानी कहलाने लगता है, मोक्षमार्गी हो जाता है। अनुभव के लिए पुरुषार्थ व धैर्य का अत्यधिक आवश्यकता है। यदि ये धैर्यपूर्वक प्रयत्न करता ही जाए तो अनुभूति होनी ही पड़ेगी। क्योंकि वह स्वाधीन चीज है। बाकी सारी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए तो कर्म का सद्भाव अपेक्षित है और इसमें अभाव चाहिए पर जीव का पुरुषार्थ ज्ञाता पर जोर देना मात्र है, जाननपने में अपना सर्वस्व स्थापित करता है, अनुभूति हुई कि नहीं इस पर दृष्टि नहीं रहनी चाहिए। यह मन बहुत चालाक है, ज्ञातापने से डिगाने के लिए यह विकल्प उठता है कि तुम्हें तो स्वानुभूति जगानी थी, देखो तो सही यह हुई कि नहीं, यह क्यों नहीं हो पा रही है, क्या कारण है ? यह मन प्रलोभन देने में बहुत पक्का है। तुम इसकी सुनना मत, इसकी सुनने बैठे तो विकल्पों में ही ठहर जाओगे और अनुभूति की तो बात ही दूर, ज्ञातापने से भी वंचित रह जाओगे। तुम तो जानने वाले पर ही जोर देने के पुरुषार्थ में संलग्न रहना एक दिन स्वानुभव तो स्वयमेव ही अनायास हो जाएगा, तुमने कभी सोचा भी न होगा, कल्पना भी न की होगी कि ऐसा भी कभी हो सकता है।

ज्ञानी की दशा :

ज्ञानी को स्वभाव के आनन्द का अनुभव हुआ है, स्वरूप के आनन्द सागर में गोते लगा डुबकी मार मारकर वह बारम्बार शीतलता का अनुभव करता है और जब उस सागर की सतह पर आ संसार पर इसकी दृष्टि जाती है तो सारा जगत इसे सोया हुआ प्रतीत होता है मानो यह किसी गाढ़ निद्रा में लीन हो और बाहरी सब कुछ इसे ऐसा भासता है जैसा दिन में देखा जाने वाला स्वप्न हो। रात को हम स्वप्न देखते हैं, सुबह उठकर पाते हैं कि वह तो सब झूठ था, विशेषता यही कि जिस समय वह स्वप्न देखा जा रहा था उस समय वह सत्य ही लग रहा था पर जब नींद खुली, जागृति आई तब समझ में आया कि वह तो स्वप्न था, स्वप्न को स्वप्न जान लिया, बस खत्म हो गई बात, इसके आगे उसकी कोई व्याख्या नहीं होती। इसी प्रकार उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की भी मोह निद्रा जिसमें वह चिरकाल से सो रहा था, समाप्त हुई। जिस समय वह नींद में था उस समय संसार उसे वास्तविक ही दिख रहा था पर जागते ही वह सब स्वप्नवत् भासने लगा।

सात तत्त्व व गुणस्थानों की परम्परा— अज्ञान दशा में जब यह स्वयं को कर्म व उसके फल शरीर रूप देखता था अर्थात् जीव जब स्वयं को अजीव रूप देखता था तो आत्मिक शक्ति के कर्म में लगने से आस्रव व बंध होता था और कर्म की ही बढ़वारी होती थी, अब इसने अपने आपको ज्ञान रूप, आत्म रूप देखना प्रारम्भ किया तो आगामी जो कर्म आते उनका आना रुक गया अर्थात् संवर हो गया और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा प्रारम्भ हो गई। अब यह उपयोग को अंतर में जोड़कर शांत रस में बार-बार स्थिर होता है परन्तु वहां, अपने स्वभाव में अधिक देर ठहर नहीं पाता, इसके दर्शन मोह (मिथ्यात्व) व अनंतानुबंधी कषाय तो चली गई पर अभी कषाय की अप्रत्याख्यान आदि तीन चौकड़ी शेष हैं, चारित्र मोह का सद्भाव है। पर के मालिकपने का, स्वामित्वपने का राग तो इसके नहीं रहा पर असमर्थता का राग अभी भी बाकी है अतः वह राग इसे भीतर से बाहर खींच लाता है और वहां पुराने संचित कर्म का उदय भी आता है क्योंकि यह अनंत-अनंत जन्मों का इकट्ठा किया हुआ है पर अब यह इसको जानने वाला तो रहता है, कर्म के फल रूप नहीं होता, अब कर्म में इसका अपना-पना, कर्त्तापना, अहंपना नहीं रहा, इसका अहंपना तो अपने में, चैतन्य में,

ज्ञाता दृष्टा में आ गया। अब इसे भीतर का स्वाद आ गया, वास्तविक मोक्षमार्ग का ज्ञान हो गया। रागवश बाहर जाता है पर फिर अपने को सावधान कर भीतर में जाने की कोशिश करता है, फिर बाहर जाता है, फिर भीतर का पुरुषार्थ करता है और ऐसा करते-करते ही इसका भीतर रहने का समय बढ़ने लगता है और बाहर जाना, पर में उपयोग जाना घटने लगता है और एक दिन इसकी स्वरूप में पूर्णतया स्थिति हो जाती है। जैसे किसी बच्चे को मुंह में उंगली देने की आदत पड़ गई। बार-बार समझाए जाने पर भी उसकी समझ में ही न बैठता था कि यह आदत गंदी है और जब तक स्वयं उसकी समझ में न बैठे कि इसे मुझे छोड़ना चाहिए तब तक तो उसके छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता, पर एक दिन बार-बार सुनते-सुनते उसकी समझ में आया कि यह आदत बहुत बुरी है। अब वह इस विषय में सावधानी बरतता है कि मुंह में उंगली न जाए पर जैसे ही जरा सी असावधानी होती है फिर वह स्वभावतः अन्दर पहुंच जाती है, फिर सावधान होकर उसे बाहर निकालता है और लगातार की सावधानी बढ़ाने का निरन्तर पुरुषार्थ करता है और ऐसा करते-करते एक रोज वह पाता है कि अब पूर्ण जागृति हो गई और अब अंगुली मुंह में बिल्कुल नहीं जाती, अब आदत पूर्णरूपेण छूट गई है। इसी प्रकार ज्ञानी के भी स्वरूप में रमणता बढ़ाते-बढ़ाते कषाय घटने लगती है और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है और आगामी आस्रव बंध इसके हो ही नहीं रहा है क्योंकि आस्रव बंध का मूल तो पर में अपनेपनेरूप अज्ञानता थी वह इसके नष्ट हो गई (जो कुछ थोड़ा आस्रव बंध होता भी है वह तुच्छ है, उसको यहां गिनती में नहीं लिया गया) और इस प्रकार निर्जरा होते-होते जब इसकी आत्मा में लीनता बढ़ती है तो बाहर में भी व्रत, तप रूप आचरण होता चला जाता है, भीतर में जितनी स्थिरता बढ़ेगी उतना बाहर में परिवर्तन आना ही पड़ेगा और इस प्रकार इसके गुणस्थानों में बढ़वारी होती चली जाती है और समूचे संचित कर्म नष्ट होकर इसको क्रम से मोक्ष हो जाता है, मात्र एक अकेली चेतना अपने शुद्ध स्वरूप में विराजती हुई बाकी बच रहती है।

ज्ञातापने की सहज क्रिया—ज्ञानी बारम्बार अनुभूति करने का नहीं वरन् ज्ञाता रूप रहने का ही पुरुषार्थ करता है और उसे 'मैं ज्ञाता हूं, मैं ज्ञाता हूं' ऐसा विकल्प नहीं करना पड़ता। दीपक जल रहा है, वह यह विकल्प नहीं करता कि मैं प्रकाश कर रहा हूं, मैंने इतने पदार्थों को प्रकाशित किया, अभी चक्रवर्ती निकला था उसे भी मैंने प्रकाशित किया था'

वह तो कह रहा है कि मैं तो मात्र प्रकाश रूप हूँ। इसी प्रकार ज्ञानी की भी ज्ञातापने की स्वाभाविक स्थिति बनती है, वह सबको जानता रहता है। वह बार-बार ज्ञातापने से हटता है, मन से जुड़ जाता है, विचार चालू हो जाते हैं फिर स्वयं को टोकता है, सावधान हो जाता है और श्वास के साक्षी रहने का और शरीर की सारी क्रियाओं का चलते-फिरते, उठते-बैठते साक्षी रहने का ही प्रयास करता है. साक्षीभूत रहते-रहते अनुभूति तो कभी स्वयमेव हो हो जाती है। अनुभूति व ज्ञातापने में अन्तर यही है कि अनुभूति में तो मात्र एक अकेला चैतन्य ही रह जाता है, मन, श्वास, शारीरिक क्रिया आदि किसी पर भी दृष्टि नहीं रहती पर ज्ञातापने में भीतर में जानने वाला और बाहर में श्वास या कोई शारीरिक क्रिया या बोलने की क्रिया—ऐसे दो रहते हैं, मन नहीं रहता। जहाँ ज्ञातापना होगा वहाँ मन तो रह ही नहीं सकता क्योंकि शक्ति तो वही है, यदि वह मन में लग जाएगी तो ज्ञाता में कहाँ से लगेगी, हाँ शरीर की कोई क्रिया या श्वास की क्रिया जाननपने के साथ भी बनी रह सकती है क्योंकि इन क्रियाओं में चेतना की बहुत थोड़ी सी शक्ति लगती है पर मन के विकल्पों में तो अत्यधिक शक्ति खर्च होती है।

ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता—ज्ञानी के भी ज्ञान धारा व कर्मधारा दोनों चल रही हैं पर वह ज्ञानधारा का ही मालिक है। कर्मधारा का कार्य हो रहा है पर ज्ञानी उसका जानने वाला ही है, कर्ता नहीं है, कर्मधारा में उसके अहंपना नहीं है। जैसे हम दूसरे आदमी को देखते, जानते हैं, उसके क्रोधादिक को भी देखते हैं और शरीर की अवस्था को भी देखते हैं परन्तु उस रूप नहीं होते वैसे ही यह भी दूर खड़ा होकर कर्मधारा को देखता है पर उसे अपने रूप नहीं करता अतः अब ज्ञान अपना ही कर्ता भोक्ता है कर्म के कार्य का कर्ता भोक्ता नहीं। सोने में यदि चाँदी मिली हो तो भी वह शुद्ध स्वर्ण की दृष्टि से तो खोट ही कहलाएगी, उसे ऐसा नहीं कहेंगे कि यह चांदी की है तो कुछ अच्छी है। मोक्षमार्ग में भी मात्र शुद्ध स्वर्ण को, शुद्ध आत्मा को ग्रहण करने की दृष्टि है अतः समस्त कर्म ही संसार को बढ़ाता है चाहे वह कितनी ही ऊँची से ऊँची जाति का हो, तीर्थंकर प्रकृति ही क्यों न न हो। 'जितना ज्ञान रूप रहना उतना मोक्ष, जितना कर्म उतना संसार' यह वस्तु तत्व ज्ञानी के अच्छी तरह समझ में आ गया अतः अभी तक जो शक्ति कर्म के करने में लगती थी वही अब ज्ञान में, उसे जानने में लगने लगी अतः ज्ञानी ज्ञान का कर्ता हो गया और उसी का भोक्ता कहलाया, कर्म व उसके फल का कर्ता व भोक्ता न रहा।

द्रव्य दृष्टि, पर्याय दृष्टि—जब तक यह अज्ञानी था तब तक अपने आपको मात्र पर्याय रूप ही देखता जानता था, पर्याय दृष्टि का ही इसे एकान्त था, द्रव्य स्वभाव का इसे ज्ञान ही न था और आत्मा है द्रव्य-पर्याय रूप अतः वस्तु का सम्यक् परिज्ञान न होने के कारण यह मिथ्यादृष्टि कहलाता था। चेतन द्रव्य दृष्टि से त्रिकाल शुद्ध और एक अकेला है पर पर्याय दृष्टि से देखें तो अशुद्ध हो रहा है और शरीर, कर्म आदि अनेक संयोगों को प्राप्त हो रहा है अतः जीव को दोनों दृष्टियों का ज्ञान होना चाहिए और वस्तु का पर्याय रूप तो ये अनुभव अनादि काल से कर ही रहा है, वस्तु का द्रव्य रूप भी अनुभव इसे होना चाहिए। अब आचार्यों के सम्यक् उपदेश से जब द्रव्य स्वभाव का ज्ञान कर द्रव्य रूप इसने वस्तु का अनुभव किया तो इसका ज्ञान यथार्थ हुआ और ये ज्ञानी कहलाया और पर्याय में एकत्व बुद्धि छूट गई।

द्रव्य दृष्टि के बल से भय, इच्छा व कषाय के प्रयोजन का अभाव—अज्ञान दशा में वस्तु को मात्र पर्याय रूप ही देखने से आकुलता के सिवाय और कुछ इसके हाथ न लगता था क्योंकि सप्त भयों से यह निरन्तर घिरा रहता था—मरण का डर, पुण्य के उदय में पाप का उदय आने का डर, सुख में दुःखी हो जाने का डर, सम्मानित है तो अपमान का डर आदि और इच्छा व कषाय करने का प्रयोजन भी इसके बना हुआ था। सारी स्थिति सब तरह से अनुकूल बनी रहे इस बात की इच्छा एवं इच्छा की पूर्ति न होने पर क्रोधादि कषाय रूप परिणमन हो हो जाता था। अब ज्ञानी होने के बाद जब इसकी द्रव्य दृष्टि जाग्रत हुई, इसने अपने आपको ज्ञान रूप जाना, निज भाव रूप देखा तो पाया कि मैं तो एक अकेला चैतन्य हूँ, बस इतना ही हूँ, ऐसा ही अनादि काल से हूँ और अनन्त काल तक ऐसा ही रहूँगा। जब स्वयं को ऐसा अनुभव किया तो कुछ भी होने का सवाल ही नहीं रहा, कोई भय न रहा एवं इच्छा व कषाय करने का प्रयोजन भी चला गया। जब शरीर मेरा है नहीं और मेरा मरण है नहीं तो मरण का भय कैसा ? अपना वैभव, आत्मा के अनन्त गुण अपने पास है, अन्य सांसारिक वैभव अपना हो ही नहीं सकता तो वैभव की इच्छा कैसे हो ? अपना सब कुछ अपने में है, चेतना के अनन्त गुण ही मात्र मेरे हैं, वे कहीं बाहर जा नहीं सकते और बाहर से उनमें कुछ भी आकर मिलने वाला भी नहीं तो तो अन्य धन, परिवार आदि सबकी चाह कैसे हो ? इसी प्रकार मेरा कोई अनिष्ट नहीं तो क्रोध किस पर करूँ ? कोई मुझसे बड़ा-छोटा नहीं तो

अपमान सम्मान कैसा ? कोई इष्ट नहीं तो राग किससे एवं कोई अनिष्ट नहीं तो द्वेष किससे ? इस प्रकार निज का आश्रय लेने वाले के कषाय करने का भी अभिप्राय नहीं रहा। जैसे एक दीपक एक झोंपड़े में जल रहा है वह यदि स्वयं को दीपक रूप न देख कर झोंपड़े रूप माने तो उसे झोंपड़े के चले जाने का निरन्तर भय बना रहेगा, झोंपड़े सम्बन्धी हजारों चिन्ताएँ व इच्छाएँ उसमें जन्मेंगी, अन्य महल में जल रहे दीपकों से द्वेष होगा एवं स्वयं के भीतर महल में जाने का राग उपजेगा परन्तु यदि वह स्वयं को झोंपड़े रूप न देखकर अपने रूप, दीपक रूप, ही देखे तो न तो झोंपड़े सम्बन्धी कोई भय या चिन्ता रहेगी, न महल में जाने की इच्छा होगी और न ही अन्य महल वाले दीपकों से द्वेष होगा, वह तो स्वयं को मात्र झोंपड़े को प्रकाशित करने वाला, जानने वाला ही देखेगा परन्तु उस रूप नहीं।

पर्याय की सारी कमी अपनी व ज्ञाता रूप रहने से उसका अभाव—

ज्ञानी को द्रव्य दृष्टि जागृति हुई और वह स्वयं को ज्ञान रूप ही देख जान रहा है। द्रव्य दृष्टि से तो वह ज्ञाता ही है और जब तक साधक रूप अवस्था है तब तक ज्ञान रूप रहने को ही अपना कार्य समझता है पर द्रव्य दृष्टि का भी एकान्त नहीं करता, पर्याय को भी जानता है और जितनी पर्याय में कमी है उसे अपनी कमजोरी व गल्ती मानता है और उसका कारण पर्याय में होने वाले विकार को जानता है, पर्याय दृष्टि से विकार से हटना भी चाहता है एवं बार-बार द्रव्य स्वभाव का अवलम्बन लेकर अपनी उस कमजोरी को दूर करने का पुरुषार्थ करता है। ज्ञाता बनते ही विकार दूर होने लगते हैं, क्रोध का ज्ञाता होते ही क्रोध का अभाव होने लगता है, वह अदृश्य हो जाता है, कामवासना का ज्ञाता होते ही उसका अभाव होने लगता है, वह बर्फ की भांति पिघलने लगती है क्योंकि विकार व वासना तो चेतना के सहयोग के कारण ही फलते-फूलते हैं और जब चेतना का सहयोग नहीं रहता तो वे नष्ट प्रायः हो जाते हैं। द्रव्य दृष्टि से तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध है ही, पर्याय में अशुद्ध थी और वह पर्याय की अशुद्धता उस शुद्ध द्रव्य के निरन्तर अनुभव से कम होती हुई एक दिन समाप्त हो जाती है और तब पर्याय के भी शुद्ध हो जाने पर द्रव्य परिपूर्ण शुद्ध हो जाता है।

दोनों दृष्टियों का ज्ञान—पर 'जीव शुद्धता के लिए पुरुषार्थ करता है' यह बात भी पर्याय दृष्टि से कही जाती है, द्रव्य दृष्टि से तो वह उसका

भी ज्ञाता ही है, उस परिणति का भी कर्ता नहीं। द्रव्य दृष्टि से न उसे इच्छाओं का कर्ता कहते हैं न कषायों का, परन्तु पर्याय में अभी भारी कमजोरी है, बहुत पराधीनता है अतः इच्छाओं और कषाय का सद्भाव पाया जाता है। द्रव्य दृष्टि के विषय को पर्याय में और पर्याय दृष्टि के विषय को द्रव्य में नहीं मिलाना चाहिए। द्रव्य दृष्टि से जीव मात्र ज्ञाता है और पर्याय दृष्टि से सारी जिम्मेवारी उसकी अपनी है। पर्याय में पश्चात्ताप भी आता है कि मेरी ऐसी परिणति क्यों हुई? कर्म का नाश तो द्रव्य दृष्टि के बल पर होगा पर पर्याय दृष्टि के ज्ञान के बल से स्वच्छंदीपना नहीं आएगा।

ज्ञानी का पर्याय में विवेक—ज्ञानी ज्ञान का ही मालिक है, उसके सिवाय अन्य कुछ कर नहीं सकता पर अभी अधूरी अवस्था है इसीलिए पर्याय में इतना विवेक उसे है कि तीव्र कषाय से हट कर मंद कषाय रूप रहने की चेष्टा करता है परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता, राग का ही कार्य जानता है। आत्मबल की कमी के कारण निर्विकल्पता नहीं बन पाती और विकल्पों में जाता ही है तो अन्य लौकिक बातों से बच कर देव, शास्त्र, गुरु में ही लगने की चेष्टा करता है और लौकिक में भी तीव्र कषाय गर्भित विकल्प न उठा कर मंद कषाय वाले ही उठाता है। जैसे कोई व्यक्ति जा रहा है, उसको देखकर हम यह विकल्प भी उठा सकते हैं कि 'बड़ा आदमी हो गया, अब क्यों हमारी तरफ देखता' और यह भी सोच सकते हैं कि 'जल्दी में होगा इसीलिए नहीं देखा।' प्रत्यक्षतः पहला विकल्प दूसरे की अपेक्षा अधिक कषाय को लिए हुए है, तो ज्ञानी दूसरी प्रकार के विकल्प में ही जाएगा। उसका सोचने का ढंग ही अज्ञानियों से निराला हो जाता है क्योंकि उसे वस्तु तत्त्व समझ में आ गया कि 'परिस्थिति तो मुझे कषाय कराती नहीं, मैं स्वयं ज्ञाता रूप रहने की अपनी असमर्थता के कारण परिस्थिति से जुड़कर विकल्पों में बह जाता हूँ और उसके फलस्वरूप स्वयं ही अपनी चेतना का घात कर बैठता हूँ अतः अपेक्षाकृत मंद कषाय वाले विकल्प ही क्यों न उठाऊँ जिससे मेरे आत्म-स्वभाव का कम घात हो।' द्रव्य दृष्टि से ज्ञानी ज्ञाता रूप ही रहने का पुरुषार्थ करता है पर पर्याय दृष्टि से अपनी कमजोरी और न बढ़े इसके लिए बाहरी व्रत तप क्रिया को भी अंगीकार करता है जैसे यदि शरीर में १०२° की बुखार है तो उसके लिए दो प्रयत्न किये जाते हैं—बुखार आगे और न बढ़े इसके लिए परहेज और जितना है उतना भी खत्म करने के लिए दवाई। उसी प्रकार ज्ञानी भी

जितना विकार है उसको दूर करने के लिए ज्ञाता रूप रहता है और उसी विकार से और ज्यादा न बढ़ जाए इसके लिए शरीराश्रित व्रत तप आदि क्रिया भी करता है पर उन क्रियाओं में भी उसके ममत्व नहीं होता, जब शरीर में ही ममत्व न रहा तो उसके आश्रित क्रियाओं में ममत्व कैसा ? इन क्रियाओं में वह खेंचतान भी नहीं करता। जब देखता है कि इन्द्रियाँ और मन चंचल हो रहे हैं तो उपवास करता है और जब उन्हें शिथिल देखता है, अपने ध्यान अध्ययन में कमी आते देखता है तो भोजन का ग्रहण करता है।

सब परिवर्तन व आचरण स्वाभाविक—ज्ञानी को वस्तु स्वरूप अनुभव में आ गया अतः उसके जीवन में परिवर्तन निश्चित रूप से आता है पर वह सारा परिवर्तन स्वाभाविक होता है। हम यदि ऐसा कहें कि पर पदार्थ मेरा नहीं है पर अनुभव में यही आए कि है तो मेरा ही तो फिर हमारा जीवन बदलेगा नहीं और यदि बाहर में कुछ परिवर्तन दीखे भी तो वह लाया हुआ ही होगा, आया हुआ नहीं एवं लाया हुआ आचरण वास्तविक नहीं होता और उसके लिए निरन्तर चिन्ता रहती है जैसे कोई स्त्री ऊपर से बहुत ज्यादा शृंगार करके जा रही है तो वह चूंकि उसकी स्वाभाविक सुन्दरता नहीं है अतः उसे बार-बार दर्पण में मुंह निहारना पड़ता है कि कहीं कुछ बिगड़ तो नहीं गया, निरन्तर उसे उसको ही चिंता रहती है। पर ज्ञानी का आचरण ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं होता, उसे बार-बार यह देखना नहीं पड़ता कि कहीं कोई कुछ गल्ती तो नहीं हो रही। सम्यग्दर्शन के आठ अंग उसे पालने पड़ते हों ऐसा नहीं वरन् वे स्वतः ही पलते हैं। वह बाहरी पर पदार्थ में सुख दुःख नहीं मानता, ऐसा नहीं वरन् उसके पर पदार्थ में सुख दुःख पैदा ही नहीं होता।

बाहरी कृत्यों से ज्ञानी अज्ञानीपने का माप नहीं—जीव की बाहर की दशा व कृत्यों से उसके ज्ञानी अज्ञानीपने का माप नहीं किया जा सकता। हो सकता है अज्ञानी के कृत्य ज्यादा शुभ दिखाई दे और ज्ञानी के अशुभ। ज्ञानी अज्ञानीपने का सम्बन्ध तो भीतर ज्ञान की जागृति व मूर्च्छा से हैं। यदि बाहर में ज्ञानी अज्ञानी दोनों के कृत्य एक जैसे भी दिखाई दे रहे हैं तो भी भीतर में उन दोनों के अभिप्राय में महान अन्तर है। ज्ञानी उन कृत्यों को करना नहीं चाहता, उसकी रुचि नहीं है उनमें, रुचि तो उसकी मात्र ज्ञाता रूप रहने में ही हैं। कर्म के उदय की बरजोरी से काम करना और चाह करके करना दोनों में महान अन्तर है। पहले भांग पी ली और अब उसका

नशा चढ़ा तो झूम रहे हैं पर अब वह यदि यह चाहे भी कि मुझे नशा न चढ़े तो यह सम्भव नहीं। तो इस ज्ञानी ने भी पहले जो मोह की भांग पी थी उसका अभी इसे नशा चढ़ा हुआ है और अभी भी यह झूमता हुआ पाया जाता है पर भीतर में उस नशे को हेय ही समझ रहा है और चाहता भी यही है कि कब यह नशा खत्म हो और एक समय ऐसा आएगा ही कि नशा खत्म होगा और आगे यह भांग पिएगा नहीं तो हमेशा के लिए स्वस्थ हो जाएगा, स्व में स्थित हो जाएगा। पर यह नशा तो जब खत्म होगा तब होगा अभी बाहर से देखने वाले को तो वह झूमता हुआ ही दिखाई दे रहा है, परिवर्तन जो बहुत बड़ा उसमें आया है उसे तो वह स्वयं ही जानता है, वह उसके भीतर की वस्तु है और अभी वह बाहर दिखाई देगा नहीं। बाहर में तो जब व्रती या मुनि अवस्था आएगी तभी वह प्रगट होगा।

वचन से भी ज्ञानी अज्ञानीपने का माप नहीं—ऐसे ही ज्ञानी अज्ञानीपने का सम्बन्ध मुंह से क्या कहा जा रहा है इससे भी नहीं। हो सकता है कि ज्ञानी मुंह से शरीर को अपना कहे, स्त्री पुत्र आदि को अपने कहे पर ऐसा कहते हुए भी दिखाई उसे वे पर ही दे रहे हैं और अज्ञानी मुंह से चाहे उन्हें पर कहे कि ये मेरे नहीं पर दिखाई उसे वे अपने ही देते हैं। लोक में इसके उदाहरण भी पाए जाते हैं। हम दूसरे के बच्चे को लेकर जा रहे हैं, रास्ते में किसी ने पूछा—'किसका बच्चा है ?' हमने कहा - 'अपना ही है।' उस बच्चे को अपना कह रहे हैं पर वह अपना मात्र कहने भर को ही है, दिखाई वह पर का ही दे रहा है। ऐसे ही हमारा अपना कोई बच्चा है, उससे खूब लड़ाई झगड़ा हो गया और हमने कहा कि आज से तेरा हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और वह अलग भी रहने लगा। मुंह से कुछ ही कह दें पर हृदय निरन्तर यही कहता रहता है कि कुछ ही कह ले, है तो अपना ही और कल को यदि किसी दुर्घटना के वशीभूत वह बहुत घायल हो जाए तो खबर लेने पहुँच ही जाएँगे उसके घर या हो सकता है कि तीव्र कषायवश न भी जाएँ पर ध्यान निरन्तर वहीं का ही लगा रहेगा। जब लौकिक में यह सम्भव है तो परमार्थ में क्यों नहीं ? ज्ञानी वचन व काय से लौकिक व्यवहार चलाता है पर मन उसका चेतना से ही जुड़ा रहता है।

संसार नाटकवत्—क्योंकि ज्ञानी का मन निरन्तर चेतना से ही जुड़ा रहता है अतः यह संसार उसके लिए नाटक का रंगमंच हो जाता है और स्वयं को वह नाटक का एक पात्र मात्र देखने लगता है। नाटक में जिस

समय अभिनेता अभिनय कर रहे हैं उसी समय वे स्वयं भी अपने उस अभिनय के दर्शक भी होते हैं। अभिनय करते हुए भी वे जानते जा रहे हैं कि यह तो अभिनय है। दो धारा वहाँ भी सतत चल रही हैं, हम कह सकते हैं कि वे रोते हुए भी रोते नहीं हैं और हँसते हुए हँसते नहीं हैं। वे चाहे गरीब का अभिनय कर रहे हों चाहे करोड़पति का, दर्शकों को अपनी उस-उस भूमिका के दुःख सुख को दिखाते हुए भी वे वास्तव में दुःखी सुखी नहीं होते क्योंकि अपने असली रूप का उन्हें ज्ञान है, अभिनय करते हुए भी निरन्तर अपनी असलियत उन्हें याद है, उसे वे भूले नहीं है, भूल सकते नहीं हैं और उन्हें यदि यह कहाजाए कि तुम जिसका अभिनय कर रहे हो उस रूप ही अपने आपको वास्तव में देखने लग जाओ तो वे यही उत्तर देंगे कि यह तो नितान्त असम्भव है, किसी हालत में भी यह हो नहीं सकता। यही स्थिति उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की है, उसे आत्मा का अनुभव हुआ, अपने असली रूप का ज्ञान हुआ अतः बाकी सब नाटक दिखने लगा, अभिनय करना पड़ रहा है उसे क्योंकि अभी स्व में ठहरने की असमर्थता है पर समस्त अभिनय के समय वह जानता जा रहा है कि इसमें मेरा अपना कुछ भी तो नहीं। उपयोग चाहे उसका बाहर में जाए पर भीतर में श्रद्धा का बोर्ड निरन्तर टंगा ही रहता है कि मैं एक अकेला चेतन हूँ और यदि उसे यह कहो कि तू इस शरीर को या कर्म को अपने रूप देख तो वह कहेगा—'कैसे देखूं? जब मैं उन रूप हूँ ही नहीं तो उन रूप स्वयं को देखना तो सर्वथा असम्भव ही है। मैं तो अब अपने को ही अपने रूप देख सकता हूँ।' और जिस प्रकार नाटक के बाद वे अभिनेता अपने-अपने अभिनय के वेश को उतार फेंकते हैं और अपने असली रूप मे आ जाते हैं और शीघ्र ही अपने घर जाने की उन्हें सुध हो आती है उसी प्रकार ये ज्ञानी भी सारा दिन संसार का नाटक कर सामायिक के समय अपने सांसारिक वेष को उतार फेंकते हैं, ये शरीर रूप जो चोला धारण किया हुआ है उसे भी स्वयं से पृथक् कर वे अपनी असलियत को प्राप्त करते है और फिर अपने घर में जाए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती अतः निज शुद्धात्मा में वे रमण करते हैं, वहीं स्वतंत्र रूप से विहार करते हैं।

इस ग्रंथ का नाम भी समयसार नाटक है, उसका अर्थ यही कि जब यह जीव समयसार रूप होता है, शुद्धात्मा का अनुभव करता है तो वह संसार उसके लिए नाटक के समान हो जाता है।

उपसंहार—यह ग्रन्थ तो चिन्तामणि रत्न रूप है। इसकी प्रत्येक

पंक्ति भेदज्ञान को दर्शाती है, प्रत्येक लाइन में अपने आपको निजभाव रूप, ज्ञान रूप देखने की प्रेरणा की गई है जो कि यह बताती है कि इस शास्त्र के रचयिता उन आचार्यदेव के भीतर कैसा करुणा का समुद्र बहता होगा कि जिस किसी प्रकार भी यह जीव अपने अनादि मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यग्दर्शन को, उस निर्विकल्प स्वानुभव को प्राप्त कर ले। निर्विकल्प स्वानुभव चौथे गुणस्थान में हो सकता है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि का है और निर्विकल्प स्वानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। कुछ व्यक्तियों की मान्यता के अनुसार चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प स्वानुभूति नहीं होती क्योंकि वे कहते हैं कि शास्त्रों में आठवें गुणस्थान से निर्विकल्प समाधि लिखी है। शास्त्रों में यह कथन आता है यह बात सत्य है पर किस विवक्षा से ऐसा लिखा गया है यह तो हमें ही समझना होगा क्योंकि 'चतुर्थ गु० में निर्विकल्पानुभूति होती है' यह कथन भी शास्त्र का ही है। शास्त्रों में अलग-अलग स्थलों पर भिन्न-भिन्न ढंग के कथन मिलते हैं उनमें आचार्यों की अपेक्षाएँ लगाकर हमें बुद्धि में उनका तालमेल बैठाना होगा जिससे पूर्वापर कोई विरोध न रहे। चतुर्थ गु० में निर्विकल्पानुभूति उन्होंने कैसे कही इसका खुलासा यही है कि विकल्प दो प्रकार के होते हैं—एक तो बुद्धिपूर्वक और एक अबुद्धिपूर्वक। जो जीव की पकड़ में आएँ उन्हें बुद्धिपूर्वक और जो उसकी पकड़ के बाहर हों उन्हें अबुद्धिपूर्वक कहते हैं। चौथे गु० में जीव के क्योंकि बुद्धिपूर्वक कोई विकल्प नहीं रहते अतः उसे निर्विकल्प अनुभूति कहा और आप यदि उस आनन्दास्वादी से पूछें तो वह भी यही कहेगा कि 'सच में ही मेरी उस समय निर्विकल्प अवस्था थी। कोई भी विकल्प मुझे नहीं था।' अब वह तो अल्पज्ञानी है, छद्मस्थ है और उसको पकड़ में आने योग्य बुद्धिपूर्वक जो सारे विकल्प हैं उनका उस समय अभाव हुआ ही है अतः उसकी अपेक्षा यह कथन सत्य है पर किसी महान ज्ञानी से, केवल ज्ञानी से उसी समय यदि आप बात करें तो वे कहेंगे—'अभी निर्विकल्पता कहाँ ? अभी तो अबुद्धिपूर्वक अनन्तों विकल्प इसके पड़े हैं। कषाय की तीन चौकड़ियाँ शेष हैं, केवल अनन्तानुबंधी ही तो गई है। हम तो आठवें गुणस्थान में जब यह जीव श्रेणी मांडकर शुक्ल ध्यान प्रारम्भ करेगा और भीतर में लीनता इसकी बढ़ेगी तब इसे निर्विकल्प समाधि स्थित कहेंगे।' इस प्रकार से इन कथनों को यदि हम समझें तो बात पूरी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के रूप में मान लीजिए कि हम एक निश्चित स्थान पर खड़े हुए दूर क्षितिज की ओर जाते हुए एक व्यक्ति को देख रहे हैं।

एक समय ऐसा आएगा कि वह धुंधला होते-होते हमें दिखाई देना बंद हो जाएगा तो हम यही तो कहेंगे कि वह व्यक्ति अब नहीं रहा पर यह कथन हमारे ज्ञान की अपेक्षा ही सत्य है, वास्तव में यदि देखें तो दूर क्षितिज पर उस व्यक्ति का सद्भाव कहीं न कहीं अवश्य है ही और कोई और व्यक्ति जिसकी दृष्टि हमसे ज्यादा तीक्ष्ण है उसे उस समय भी देखकर यही कहेगा कि 'चला तो जा रहा है वह, निषेध कैसे कर रहे हो तुम उसका ?' इस प्रकार विभिन्न कथन विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा सत्य हो सकते हैं। अतः चतुर्थ गु० में निर्विकल्प स्वानुभव का सर्वथा निषेध करना मोक्षमार्ग का ही निषेध करना है। चौथे गु० में स्वानुभूति होती है और अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन होता है। वह आनन्द 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन हूँ, निर्विकार हूँ' इस प्रकार के विकल्पोंजनित नहीं होता वरन् आत्म वस्तु के प्रत्यक्ष स्वादजनित होता है। उसकी महिमा ही कुछ और है। कल्पना करके भी अगर देखा जाए कि किसी समय यदि हम ऐसे ही शून्य से बैठ जाएँ और कोई भी विकल्प न करें तो ही कितनी शांति मिलती है जब कि उस समय अबुद्धि व बुद्धिपूर्वक लाखों विकल्प खड़े रहते हैं तो जिस समय बुद्धिपूर्वक के कोई विकल्प न रहें उस समय कितनी शांति मिलती होगी जो कि वर्णनातीत है।

यह ग्रन्थ ढूंढारी भाषा में था। इसकी स्वाध्याय दिल्ली आने पर मंदिरजी में शास्त्र सभा में की। जन समुदाय की अध्यात्म की तरफ रुचि बढ़ी। भाई महेन्द्रसेन जी ने कहा कि इस ग्रन्थ की शुद्ध हिन्दी हो जाती तो सबको लाभ मिलता। मैंने उनसे अनुरोध किया कि यह काम आपको करना ही चाहिए क्योंकि यह टीका आत्म अनुभव के लिए बहुत ही प्रेरणादायक है। उन्होंने ग्रन्थ की टीका करनी प्रारम्भ की, अभी दो अध्याय शेष बचे थे कि वे अस्वस्थ हो गए। एक रोज बोले कि यह काम बाकी रहता लगता है। केन्सर के रोग के कारण उनको बेचैनी थी परन्तु उस हालत में भी इसे पूरा करने की उन्होंने चेष्टा की। एक अध्याय और लिखा और एक बाकी रह गया जो बाबू महतावसिंह जी की पुत्री कु० कुंदलता ने पूरा किया। प्रस्तावना में भी इनका पूर्ण योगदान रहा है। वे धन्यवाद की पात्र हैं। इसके प्रूफ संशोधन का सब काम श्री पद्मचन्द्र शास्त्री वीर सेवा मन्दिर ने बड़ी लगन से किया जिसके लिए उनका बहुत ही आभार है।

इस ग्रंथ को छपाने की प्रेरणा बड़े मंदिरजी, कूंचा सेठ में समस्त सर्व

में बैठने वालों की रही, भाई कपूरचंद जी की खास प्रेरणा रही, उन्होंने इस ग्रंथ की छपाई में अपने पास से चार हजार रु० दिए और बाकी और भी अन्य भाइयों को प्रेरणा कर इकट्ठे कर दिए जिसके लिए मैं उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। वीर सेवा मन्दिर से यह प्रकाशित किया जा रहा है।

यह ग्रंथ तो आत्म रस से भरा हुआ रस का कूप है। ऐसा लगता है मानो यह अपने स्वरूप में रमण करने का निमंत्रण ही दे रहा हो। स्वानुभव की जैसी प्रेरणा इसमें की गई है वैसी कम ग्रंथों में मिलती है। ऐसे शास्त्र का बार-बार स्वाध्याय, मनन व चिन्तन करना आवश्यक है, इसी अभिप्राय से इसको छपाया गया है। स्वाध्याय प्रेमियों से अनुरोध है कि इसको मात्र एक बार नहीं वरन् दस-बीस बार स्वाध्याय कर, तत्त्व को समझ कर अपने आपको चैतन्य रूप अनुभव करने का पुरुषार्थ करें जिससे स्वानुभूति उदय को प्राप्त हो।

काललब्धि आने पर अर्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर जीव को सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कवि राजमल जी ने बार-बार लिखा है परन्तु मेरी समझ में और श्री महेन्द्रसेन जी के भी अनुसार जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उसका अनंत संसार समाप्त होकर अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन शेष रह जाता है। जोर सदैव पुरुषार्थ पर ही आना चाहिए। यदि काललब्धि पर जोर देंगे तो जीव का पुरुषार्थ कुण्ठित हो जाएगा और वह यही समझ कर बैठ जाएगा कि अभी मेरी काललब्धि नहीं आई है, उसके आने पर स्वयमेव सम्यग्दर्शन हो जाएगा। पं० टोडरमल जी ने भी 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में इस विषय का अच्छा खुलासा करते हुए यही लिखा है कि किसी भी कार्य की पूर्ति में स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि व होनहार ये पांच समवाय चाहिए पर इस सन्दर्भ में पुरुषार्थ ही मुख्य है। जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्ति का पुरुषार्थ कर रहा है तो उसकी काललब्धि आ गई और होनहार भी उसी प्रकार की है तभी तो उससे वह पुरुषार्थ बन पा रहा है, काललब्धि व होनहार स्वयं में तो कोई वस्तु हैं नहीं। इसके बारे में पाठकों को विचार करना चाहिए।

सन्मति-विहार
नई दिल्ली-२

बाबूलाल जैन

श्रीअमृतचन्द्राचार्य विरचित-समयसारकलश पर
श्री राज-मल्लकविकृत ढूंढारी भाषा-टीका का
हिन्दी अनुवाद

समयसार कलश टीका

(कविवर बनारसीदास जी कृत नाटक समयसार सहित)

प्रथम अध्याय

जीव-अधिकार

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।।१।।

अर्थ—समस्त सत् स्वरूप पदार्थों में जो उपादेय है अर्थात् जीवद्रव्य और ऐसा जीवद्रव्य जिसने निराकुल शुद्धात्मरूप परिणमन करके अतीन्द्रिय सुख को जाना है या उस रूप अवस्था प्राप्त की है, जिसका ज्ञान चेतना ही स्वभाव सर्वस्व है और जो अतीत-अनागत-वर्तमान पर्याय सहित अनन्तगुणयुक्त जीवादि पदार्थों को एक ही समय में प्रत्यक्षरूप से जानने-देखने वाला है, उसको हमारा नमस्कार है।

इस नमस्कार मंत्र में शुद्धजीव का ही हितकारी होना घटित होता है। हितकारी तो सुख होता है और अहितकारी दुःख। क्योंकि अजीव पदार्थों—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल को और संसारी जीवों को सुख नहीं होता है और आत्मज्ञान भी नहीं होता है; इनका स्वरूप जान

लेने मात्र से भी किसी चेतन जीव को न तो सुख होता है और न ज्ञान ही ; इसलिए इनमें से किसी का भी उपादेय होना सिद्ध नहीं होता। शुद्धजीव को सुख है और ज्ञान भी है अतः उसको जानने—अनुभव करने वाले चेतन जीव को सुख है और ज्ञान भी है। इस प्रकार शुद्धजीव का ही उपादेय होना सिद्ध होता है ॥१॥

सवैया—जो अपनी दुति आप विराजत, है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक, महासुख सागर को विसरामी ॥
जीव अजीव जिते जग में, तिनको गुण ज्ञायक अन्तरजामी।
सो शिवरूप बसे शिवनायक, ताहि विलोकि नमैं शिवगामी ॥१॥

अनुष्टुप छन्द

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अर्थ—भिन्न कहे जाने वाले द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म से रहित जो अनन्तधर्मगुणयुक्त आत्मा या जीव द्रव्य है वही सर्वज्ञ वीतराग है। ऐसे सर्वज्ञ वीतराग की अनेकान्त अर्थात् स्याद्वादमयी, सदा त्रिकाल प्रकाश करने वाली, दिव्यध्वनि या वाणी को नमस्कार किया है।

शंका—वाणी तो पुद्गल है—अचेतन है और अचेतन को नमस्कार निषिद्ध है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। वाणी अचेतन होते हुए भी सर्वज्ञस्वरूप की अनुसारिणी है। उसको सुनकर ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः वह भी पूज्य है।

कोई मिथ्यावादी यदि यह कहे कि परमात्मा तो निर्गुण है, गुणों का विनाश होने पर ही परमात्मपना होता है, तो ऐसा मानना झूठा है। गुणों के विनाश होने से तो द्रव्य का ही विनाश हो जाता है।

शंका—अनेकान्त तो संशय है और संशय मिथ्या है।

समाधान—अनेकान्त संशय नहीं बल्कि उल्टे संशय को दूर करने वाला है और वस्तु स्वरूप को कहने के लिए साधन है। जो भी सत्ता-स्वरूप वस्तु है वह द्रव्य-गुणात्मक है। इसमें जो सत्ता अभेद-रूप से द्रव्य कही जाती है वही सत्ता भेद-रूप से गुणरूप कही जाती है। इसी का नाम अनेकान्त है। अनादि निधन वस्तु स्वरूप ऐसा ही है। किसी का चारा नहीं। इस प्रकार अनेकान्त प्रमाण है ॥२॥

सवैया—जोग धरे रहे जोगसूं भिन्न, अनन्तगुणातम केवलज्ञानी।
तासु हृदै द्रह सों निकसी, सरिता समह्वै श्रुत सिंधुसमानी॥
याते अनन्त नयातम लच्छन, सत्य सरूप सिद्धान्त बखानी।
बुद्ध लखै दुरबुद्ध लखै नहिं, सदा जगमांहि जगै जिनवाणी॥२॥

मालिनी छन्द

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
द्विरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतुसमयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥३॥

अर्थ—शास्त्रकर्ता अमृतचन्द्र सूरि कामना करते हैं कि मुझको जो सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि या निर्मलता है और जो शुद्ध स्वरूप में ही उपलब्ध है, वह प्राप्त हो। समयसार या शुद्ध जीव की व्याख्या परमार्थरूप वैराग्योत्पादक है। रामायण-महाभारत की भांति रागवर्द्धक नहीं है। अतः समयसार का उपदेश करते हुए मुझे वैराग्यवृद्धि होकर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो। द्रव्यार्थिक नय से मैं स्वानुभूतियुक्त, अतीन्द्रिय सुख स्वरूप, रागादि उपाधि से रहित और चेतनमात्र स्वभाव वाला हूं। दूसरे पक्ष से, अर्थात् पर्यायार्थिक नय से मैं अनादिकाल से निरन्तर विषयकषायादि से पूर्ण, अशुद्ध चेतनरूप, विभाव परिणमन कर रहा हूं। कलंकपने से युक्त हूं। पर्य्यायार्थिक नय से जिस अशुद्धता से यह जीव अनादिकाल से परिणमन कर रहा है, उसके नाश होने पर ही वह ज्ञानस्वरूप या सुखस्वरूप को प्राप्त होगा। प्रश्न उठता है कि जब जीव वस्तु अनादिकालसे अशुद्ध परिणमन कर रही है तो उसमें निमित्त क्या है? उत्तर—आठों कर्मों में जो मोह नाम का कर्म है उसका उदय या विपाक अवस्था जीव के अशुद्ध परिणमन में निमित्त कारण है; यद्यपि व्याप्यव्यापकरूप से तो जीवद्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है। जैसे कोई धतूरा पीकर बौराता है तो धतूरे का सेवन उसके बौराने में निमित्त मात्र है। बौराता तो वह स्वयं ही है। जीव का जो परपरिणति परिणाम अथवा अशुद्ध परिणाम है उसके निमित्त का रस लेकर मोहकर्म बंधता है और फिर उदय में आकर स्वयं अशुद्ध परिणमन में निमित्त बनता है॥३॥

छप्पय छन्द—हूं निश्चय तिहुंकाल, शुद्ध चेतनमय मूरति,
परपरणति संयोग, भई जड़ता विस्फूरति।

मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चय,
ज्यों धतूर रसपान करत, नर बहु विधि नच्चय।
अब समयसार वर्णन करत, परमशुद्धता होहु मुझ।
अनायास बनारसीदास कहि, मिटो सहज भ्रम की अरुझ ॥३॥

मालिनी छन्द

उभयनयविरोधध्वंसिनिस्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अनन्त संसार में भ्रमते हुए जीव एक भव्य राशि है और एक अभव्य राशि है। उनमें अभव्य जीव तो तीन काल में भी मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं है। भव्य जीवों के मोक्ष जाने के काल का परिमाण है। कौन-सा जीव कितना काल बीतने पर मोक्ष जायगा यह तो केवलज्ञानी ही जान सकते हैं। भ्रमते-भ्रमते जब अर्धपुद्गलपरावर्त रह जाय तब सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी का नाम काललब्धि है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीव ही परिणमता है परन्तु काल लब्धि के बिना कोटि उपाय भी करे तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन नहीं कर सकता, ऐसा नियम है। इससे समझना चाहिए कि सम्यक्त्व वस्तु जतन-साध्य नहीं, सहजरूप है।[1] ऐसे भव्यजीवों को, जिन्होंने मिथ्यात्व अर्थात् विपरीतपना वमन

१. स्वयं वांतमोहाः के शब्दार्थ हैं—जिनने मोह का स्वयं वमन कर दिया हो। इसमें टीकाकार ने स्वयं का 'सहज ही' अर्थ करके उसमें से पुरुषार्थ का अंश निकाल ही दिया है और सम्यक्त्व की प्राप्ति को 'काल-लब्धि' के आधीन कर दिया जो न्यायसंगत नहीं मालूम होता। 'काल-लब्धि' का रोपण तो उस पुरुषार्थ से ही होगा जो जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए करेगा। जब किसान ने बीज बोया तो फल की प्राप्ति के लिए स्वयं की काल की मर्यादा बंध गई कि अमुक दिनों-महीनों-वर्षों बाद फल निकलेगा। बिना बीज बोने के पुरुषार्थ के काल-लब्धि कुछ नहीं कर सकेगी।

कर दिया हो, संबोधित करके कहा है कि तुम्हें थोड़े ही काल में उस शुद्ध जीव अर्थात् आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जो अतिशयवान ज्ञान-ज्योति है, अनादि सिद्ध है और मिथ्यावाद अथवा बौद्धादिक की कल्पना से अखण्ड है। उस शुद्ध स्वरूप को भव्यजीव कैसे पा सकता है? जिन वचन या दिव्य ध्वनि के द्वारा जो उपादेय शुद्धजीव वस्तु कही गई है उसका अनुभव करने से फल की प्राप्ति होगी। आसन्नभव्यजीव उस शुद्धजीव वस्तु में सावधानी से रुचि-श्रद्धा-प्रतीति करते हैं। शुद्धजीव वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करना ही सच्ची रुचि-श्रद्धा-प्रतीति कहलाती है, केवल पुद्गल वचन की रुचि करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

जिन वचन दोनों नयों के पक्षपात से रहित व परस्पर विरोध और बैरभाव को मेटने वाले हैं। द्रव्यार्थिक नय तो सत्व को द्रव्यरूप कहता है और पर्य्यायार्थिक नय उसी सत्व को पर्यायरूप कहता है, इसमें जो विरोध है, दिव्यध्वनि उसका ध्वंस करती है। दोनों ही नय विकल्प हैं और शुद्ध-जीव स्वरूप का अनुभव निर्विकल्प है। इसलिए शुद्धजीव स्वरूप का अनुभव होने पर दोनों ही नयों का विकल्प झूठा पड़ जाता है। वस्तु मात्र तो निर्भेद है परन्तु उसको कहने के लिए जो भी वचन बोले जायेंगे वह एक पक्षरूप ही होंगे और इस पक्षपात को मेटने वाले स्याद्वाद चिह्न से चिह्नित जिन वचन ही हैं ॥४॥

सवैया—निहचे में एकरूप व्यवहार में अनेक
याही नय विरोध मे जगत भरमायो है।
नय के विवाद नासिबे को जिन आगम है,
जामें स्याद्वादनाम लक्षण सुहायो है॥
दरसनमोह जाको गयो है सहजरूप,
आगम प्रमाण ताके हिरदे में आयो है।
अनय से अखण्डित अनूतन अनन्त तेज,
ऐसो पद पूरण तुरन्त तिन पायो है ॥४॥

मालिनी छन्द

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं,
परविरहितमन्तः पश्यन्तां नैष किञ्चित् ॥५॥

व्यवहार नय के कथन का विवरण—जीव वस्तु निर्विकल्प है। वह तो ज्ञानगोचर है। इस जीववस्तु का जब कथन करना पड़े तो यही कहना पड़ता है कि जिसका गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र है वह जीव है। यदि किसी ने बहुत साधना की है, उसको भी ऐसा ही कहना पड़ेगा। इतना भी कहने का नाम व्यवहार है।

शंका—जो वस्तु निर्विकल्प है, उसमें विकल्प पैदा करना युक्तिसंगत नहीं है।

समाधान—व्यवहार नय हस्तावलम्बन है। जैसे कोई नीचे गिरा हुआ हो तो उसको हाथ पकड़कर ऊपर लेते हैं। इसी तरह गुण से गुणी का भेद करके कथन करना ज्ञान उत्पन्न करने का अंग है। जैसे—जीव का लक्षण चेतना कहने से पुद्गलादि अचेतन द्रव्यों से भिन्न रूप होने की प्रतीति होती है। इस तरह जब तक अनुभव हो तब तक गुण-गुणी का भेद करके कथन करना ज्ञान का अंग है। व्यवहार नय कैसे जीव का हस्तावलम्बन है? विद्यमान ज्ञान उपजने की आरम्भिक अवस्था में जिसने सर्वस्व स्थापित किया है अर्थात् जो जीव सहज ही अज्ञानी है और जीवादि पदार्थों के द्रव्य-पर्याय स्वरूप को जानने का अभिलाषी है उसको गुण-गुणी भेदरूप कथन करना योग्य है। यद्यपि व्यवहारनय हस्तावलम्बन है और ज्ञान की अपेक्षा झूठा है, परन्तु कैसे जीव के लिए व्यवहारनय झूठा है? ऐसे जीव के लिए व्यवहारनय झूठा है जो चेतना, प्रकाश मात्र शुद्धजीव वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से अनुभवन करता है। वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर व्यवहार सहज ही छूट जाता है। कैसी है (शुद्ध जीव) वस्तु? उत्कृष्ट है, उपादेय है, पर-वस्तु अर्थात् द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भिन्न है ॥५॥

सवैया—ज्यों नर कोऊ गिरे गिरि सों तिहि, होय हितू जु गहे दृढ़ बांहीं।
त्यों बुध को विवहार भलो, तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं॥
यद्यपि यों परमाण तथापि, सधै परमारथ चेतन मांहीं।
जीव अव्यापक है पर सों, विवहार सु तो पर की परछांहीं ॥५॥

शार्दूलविक्रीडित छंद

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम्,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

इस कारण से हममें शुद्ध चेतन पदार्थ विद्यमान होवे। भावार्थ—जीव वस्तु का चेतना लक्षण तो सहज ही है परंतु मिथ्यात्व परिणाम के कारण भ्रमित होता हुआ अपने स्वरूप को नहीं जानता है। इसलिए अज्ञानी ही कहाता है। इससे ऐसा कहा है कि मिथ्या परिणाम के जाने पर यह ही जीव अपने स्वरूप का अनुभव करने वाला होता है। संसार अवस्था में जीव-द्रव्य नवतत्त्वरूप परिणमन करता है सो तो विभाव परिणति है। इसलिए नवतत्त्वरूप का अनुभव मिथ्या है और उन नवतत्त्वों का अर्थात् जीवा-जीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पाप का अनादि संबंध छोड़ कर ही जीव अपने स्वरूप का अनुभव करता है। जिस कारण से यही जीवद्रव्य सकलकर्मोपाधि से रहित, जैसा है वैसा ही, प्रत्यक्षरूप से अनुभव होता है, निश्चय से वही सम्यक्दर्शन है।

भावार्थ—सम्यक्दर्शन जीव का गुण है। वह गुण संसार अवस्था में विभाव परिणमन करता है। वही गुण जब स्वभाव परिणमन करे तो मोक्ष-मार्ग बनता है।

विवरण—सम्यक्त्वभाव होने पर नए ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मास्रव रुक जाते हैं और पुराने बंधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इसी से मोक्षमार्ग है।

शंका—मोक्षमार्ग तो सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों के मिलने से होता है।

उत्तर—शुद्ध जीव स्वरूप के अनुभवन में तीनों ही हैं। कैसा है शुद्ध जीव? निर्विकल्प वस्तु मात्र की दृष्टि से देखने पर, शुद्धरूप से, उसीरूप है। भावार्थ—जीव का लक्षण चेतना है और चेतना तीन प्रकार की है: ज्ञान-चेतना कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। इनमें ज्ञानचेतना तो शुद्ध चेतना है और शेष दो अशुद्ध चेतना। अशुद्ध चेतनारूप वस्तु का स्वाद सभी जीवों को अनादिकाल से समान है। उसरूप अनुभव सम्यक्त्व नहीं है। अपने गुण-

पर्याय को लिए हुए, शुद्ध चेतना मात्र वस्तुस्वरूप स्वाद में आवे तब सम्यक्त्व है।

शंका—सम्यक्त्वगुण जीववस्तु से भेदरूप है अथवा अभेदरूप ?

उत्तर—अभेदरूप। यह सम्यक्त्व जीवद्रव्य का गुण मात्र है ॥६॥

सवैया— शुद्धनय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार मांहि,
नवतत्त्वरूपी पंचद्रव्य में रहत है॥
पंचद्रव्यनवतत्व न्यारे जीव न्यारो, लखे
सम्यकदरस यह और न गहत है।
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहत है ॥६॥

अनुष्टुप छन्द

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

शुद्धनय अर्थात् वस्तुमात्र के विचार से वस्तु जैसी है वैसा ही अनुभव करने से सम्यक्त्व होता है और उसे ही शुद्धस्वरूप कहा है। उसी शुद्ध चेतना मात्र वस्तु का युक्ति से शब्द द्वारा कथन किया है। शुद्ध वस्तु अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ती है।

शंका—जीव वस्तु जब संसार से छूटती है तब शुद्ध होती है।

उत्तर—जीववस्तु, द्रव्यदृष्टि से विचारने पर त्रिकाल ही शुद्ध है। जिस समय वह नव तत्त्वरूप—जीवाजीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पापरूप परिणमित होती है तब भी उसका शुद्ध स्वरूप है जैसे, अग्नि का दाहक लक्षण है। वह काष्ठ, तृण, छप्पर, आदि समस्त जलने वाली वस्तुओं को जलाती है और जलाते समय अग्नि जलती हुई वस्तु के आकार की ही होती है। तब यदि काष्ठ, तृण, छप्पर, की दृष्टि से देखा जाय तो काष्ठ की आग, तृण की आग या छप्पर की आग कहना सच ही है। परन्तु यदि आग की उष्णतामात्र का विचार करें तो उष्णमात्र ही है और काष्ठ की आग, तृण की आग, छप्पर की आग ऐसा समस्त विकल्प झूठा है। इसी तरह जीव का नवतत्त्वस्वरूप परिणाम है। वह परिणाम कोई तो शुद्ध है और कोई अशुद्ध-

रूप है। जो नवों परिणामों में देखा जाय तो नव ही तत्त्व सत्य हैं। परन्तु यदि चेतनामात्र अनुभव किया जाय तो नवों ही विकल्प झूठे हैं ॥७॥

सवैया—जैसे तृण, काष्ठ, बांस, आरने इत्यादि और
इंधन अनेक विधि पावक में दहिए
आकृति विलोकत कहावे आगि नानारूप,
दीसे एक दाहक स्वभाव जब गहिए।
तैसें नवतत्त्व में भया है बहु भेषी जीव,
शुद्ध रूप मिश्रित अशुद्धरूप कहिए,
जाही क्षरा चेतना सकति को विचार कीजे,
ताही क्षरा अलख अभेदरूप लहिए ॥७॥

मालिनी छन्द

चिरमितिनवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

मुझे जीव द्रव्य की ज्योति अर्थात् शुद्ध ज्ञान-मात्र का सर्वथा अनुभव हो। नाटक की तरह एक ही जीववस्तु, एक ही समय में, अनेक आश्चर्यकारी भावरूप दिखाई देती है। इसी कारण इस शास्त्र का नाम नाटक समयसार है। पर्यायमात्र के विचार से यह ज्ञानवस्तु अनादि काल से विभावरूप रागादि परिणामों से अथवा नवतत्त्वों से आच्छादित है। भावार्थ—जीववस्तु अनादिकाल से धातु और पाषाण के संयोग की तरह कर्म पर्याय से मिली हुई चली आ रही है। मिश्रित रागादि विभाव परिणाम से व्याप्त, व्यापकरूप अपने को परिणमन करा रहो है। यदि परिणमन को देखा जाय तो जीव नवतत्त्वरूप है, ऐसी दृष्टि बनती है। कथंचित ऐसा है, सर्वथा झूठ नहीं है। विभाव रागादि रूप परिणमन की शक्ति जीव ही में है।

अब दूसरा पक्ष कहते हैं—वह जीववस्तु द्रव्यरूप है, अपने गुण-पर्याय में विराजमान है। यदि शुद्धद्रव्यस्वरूप को देखा जाय, पर्यायस्वरूप को न देखा जाय, तो वह निरंतर नवतत्त्वों के विकल्पों से रहित है शुद्ध वस्तुमात्र है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही सम्यक्त्व है।

वर्णमाला के दो अर्थ हैं—एक तो बनावट और दूसरा समूह। वर्ण माने भेद और माला माने पंक्ति। जैसे एक ही सोना बनावट के भेद करके अनेकरूप कहा जाता है ऐसे ही एक ही जीववस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से अनेकरूप कही जाती है। इस पक्ष में जानने के लिए गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अथवा, दृष्टान्तकी अपेक्षा, आकार भेद है। उन भेदों में भी एकरूप का अर्थ कायम है। वस्तु के विचार से भेदरूप भी वस्तु ही है, वस्तु से भिन्न भेद कोई वस्तु नहीं है। भावार्थ—यदि स्वर्णमात्र न देखा जाय, आकारभेद मात्र देखा जाय, तो आकारभेद है, सोने की ऐसी ही शक्ति है। यदि आकारभेद न देखा जाय और स्वर्णमात्र देखा जाय तो आकार भेद झूठा है। उसी प्रकार जो शुद्ध जीववस्तु मात्र न देखी जाय, गुण-पर्यायमात्र अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। जीव वस्तु ऐसी ही है। यदि गुण-पर्याय भेद, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भेद न देखा जाय, वस्तु मात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है। आत्मज्योति चेतना लक्षण से जानी जाती है इसलिए अनुमान गोचर भी है। दूसरे पक्ष से प्रत्यक्षज्ञानगोचर है। इसलिए भेदबुद्धि करके जीव चेतना लक्षण से जीववस्तु को जानता है। परन्तु वस्तु विचार से इतना विकल्प भी झूठा है। शुद्ध वस्तु मात्र है—ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है ॥८॥

सवैया—जैसे बनवारी में कुधातु के मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है।
कसिके कसौटी लीक निरखै सराफ ताहि,
बानके प्रमाण करि लेतु देतु दाम है॥

तैसे ही अनादि पुद्गल सौ संजोगी जीव,
नवतत्वरूप में अरूपी महाधाम है।
दीसै अनुमान सौ उद्योतवान ठौर ठौर,
दूसरो न और एक आतमा ही राम है ॥८॥

मालिनी छन्द

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्नुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

यह जो स्वयंसिद्ध चेतनात्मक जीववस्तु है उसका प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आते हुए कोई भी सूक्ष्म या स्थूल अन्तर्जल्प या बहिर्जल्प रूप विकल्प नहीं होता है। भावार्थ—अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष अर्थात् वेद्य-वेदकभावपने से आस्वादरूप है। ऐसा अनुभव 'पर' सहायता से निरपेक्षरूप है। ऐसा अनुभव यद्यपि ज्ञानविशेष है, तथापि सम्यक्त्व से अविनाभूत है जो सम्यग्दृष्टि को होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं होता, ऐसा निश्चय है। ऐसा होने पर जीववस्तु अपने शुद्धस्वरूप का प्रत्यक्षरूप से आस्वादन करता है। इससे जितने काल अनुभव है उतने काल वचन व्यवहार छुटा रहता है। वचन व्यवहार तो परोक्षरूप से कथन है और जीव प्रत्यक्षरूप से अनुभवशील है। इससे वचन व्यवहारपना कुछ नहीं रहता। जीववस्तु सब विकल्प क्षय करने वाली है। भावार्थ—सूर्य का प्रकाश जैसे अन्धकार मे सहज ही भिन्न है वैसे ही अनुभव भी समस्त विकल्पों से रहित है।

प्रश्न—अनुभव होते समय कोई विकल्प रहता है या कि अपने आप ही समस्त विकल्प मिट जाते हैं?

उत्तर—समस्त विकल्प मिट जाते हैं। जिस अनुभव के होने पर प्रमाण-नय-निक्षेप भी झूठे हो जाते हैं, वहाँ रागादि विकल्पों की तो बात ही नहीं। भावार्थ—रागादि तो झूठे ही हैं। जीव स्वरूप से बाहर हैं। प्रमाण-नय-निक्षेप बुद्धि से कोई जीवद्रव्य का द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप भेद करते हैं वह सब झूठा है। जो कुछ वस्तु का स्वाद है वही अनुभव है। प्रमाण अर्थात् युगपत् अनेक धर्म ग्राहक ज्ञान, वह भी विकल्प है। नय अर्थात् वस्तु का कोई एक गुण ग्राहक ज्ञान भी विकल्प है। निक्षेप अर्थात् उपचार घटनारूप ज्ञान, वह भी विकल्प है। अनादि से जीव अज्ञानी है। जीवस्वरूप को नहीं जानता। उसको जब जीव सत्व की प्रतीति होती है तब ही वह वस्तु स्वरूप को साधता है। उसका साधना गुण-गुणी ज्ञान के द्वारा होगा। दूसरा उपाय तो कोई है नहीं। इसलिए वस्तु स्वरूप का गुणगुणी भेदरूप विचार करने से, प्रमाण, नय, निक्षेप विकल्प उत्पन्न होते हैं। वे विकल्प पहली अवस्था में भले ही हैं। तथापि स्वरूपमात्र के अनुभव होने पर झूठे हैं ॥९॥

सवैया-- जैसे रविमंडल के उदै महिमंडल में,
आतप अटल तम पटल विलाते है।
तैसे परमातम को अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पक्षपात है ॥
नय को न लेस परमान को न परवेस,
निक्षेप के वंस को विध्वंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक है,
बाकी रागद्वेष की दशा की कौन बातु है ॥९॥

उपजाति छन्द

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

शुद्ध नय से शुद्धस्वरूप जीववस्तु का निरूपण करते हुए, निरुपाधि जीववस्तु स्वरूपोपदेशरूप, प्रकट हुई है। शुद्धवस्तुस्वरूप सारे पिछले काल से तथा समस्त आगामी काल से रहित है। भावार्थ शुद्ध जीव का आदि भी नहीं, अन्त भी नहीं। ऐसा जो सच्चा स्वरूप है उसका नाम शुद्धनय कहलाता है। जिसका संकल्प अर्थात् रागपरिणाम और विकल्प अर्थात् अनेकनयविकल्परूप ज्ञान की पर्यायें विलीन हो गयी है, ऐसी जीववस्तु है। भावार्थ --समस्त संकल्प-विकल्प से रहित वस्तुस्वरूप का अनुभव सम्यक्त्व है वह जीववस्तु रागादि भावों से भिन्न है और अपने गुणों से परिपूर्ण है तथा आत्मा का निज-भाव है ॥१०॥

अडिल्ल छन्द --आदि अन्त पूरण स्वभाव संयुक्त है,
पर स्वरूप पर जोग कल्पना मुक्त है।
सदा एक रस प्रकट कही है जैन में,
शुद्धनयातम वस्तु विराजै बैन में ॥१०॥

मालिनी छन्द

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंता-
ज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥११॥

जगत के सब जीव पूर्वोक्त निश्चय से शुद्ध जीववस्तु का जैसा है वैसा प्रत्यक्षरूप से स्वसंवेदनरूप आस्वादन करो। मोह अर्थात् शरीरादिक पर-द्रव्य में एकत्वबुद्धि छोड़कर अनुभवन करो। भावार्थ—संसारीजीव को संसार में भ्रमते अनन्तकाल गया। शरीरादि पर-द्रव्य स्वभाव था; परन्तु यह जीव अपना जानकर प्रवर्ता। सो जब भी यह विपरीत बुद्धि छूटेगी तभी जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने योग्य होगा। यह शुद्ध स्वरूप सब प्रकार प्रकाशमान है। भावार्थ—अनुभव गोचर होने में कुछ भ्रान्ति नहीं है।

प्रश्न—जीव तो शुद्ध स्वरूप कहा और वैसा ही है भी, फिर राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम अथवा सुखदुःखादिरूप परिणाम कौन करता है, कौन भोगता है?

उत्तर—करता तो जीव ही है, भोगता भी जीव ही है। परन्तु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है इसलिए निजस्वरूप के विचार से जीव का स्वरूप नहीं है। अशुद्ध रागादिभाव (अन्यभाव, अनियतभाव, विशेषभाव, संयुक्तभाव) परस्पर पिण्डरूप एक क्षेत्रावगाह हैं फिर भी अन्यभाव अर्थात् नर-नारक-तिर्यंच-देव पर्यायरूप अथवा अनियत अर्थात् असंख्यात प्रदेश संबंधी संकोच-विस्तार रूप परिणमन, विशेष अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भेद कथन, संयुक्त अर्थात् रागादि उपाधि सहित जितने भी विभाव परिणाम हैं वे सभी भाव शुद्धस्वरूप में प्रतिष्ठा या शोभा को नहीं पाते हैं। भावार्थ—बद्ध-स्पृष्ट-अन्य-अनियत-विशेष-संयुक्त जो विभाव परिणाम हैं वे सब संसारावस्था में जीव के हैं। शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव करते हुए जीव के ये परिणाम नहीं है। बद्ध-स्पृष्टादि विभावभाव प्रगटरूप से उपजा हुआ है परन्तु ऊपर ही ऊपर रहता है। भावार्थ—जैसे जीव का ज्ञान गुण त्रिकालगोचर है, वैसे रागादि विभाव भाव जीववस्तु में त्रिकालगोचर नहीं हैं और मोक्ष अवस्था में तो सर्वथा ही नहीं है। इससे यही निश्चय हुआ कि रागादि जीवस्वरूप नहीं हैं ॥११॥

कवित्त—सतगुरु कहैं भव्य जीवन सों,
तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकितरूप गहो अपनो गुण,
करहु शुद्ध अनुभव को खेल॥
पुद्गलपिंड भावरागादिक,
इनसौं नहीं तिहारो मेल।

ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥११॥

शार्दूल विक्रीडित छन्द

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्त: किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव: स्वयं शाश्वत: ॥१२॥

त्रिकालगोचर अशुद्धपने की कालिमा और कीचड़ से सर्वथा भिन्न यद्यपि चेतनालक्षण जीव स्व-स्वभावरूप विद्यमान है तथापि चारों गतियों में भ्रमण से रहित है। परन्तु द्रव्यरूप से वह तीन लोक में पूज्य है। चेतनवस्तु अद्वितीय महिमा अर्थात् बड़ाई, प्रत्यक्षरूप से आस्वाद गोचर है।

भावार्थ जीव का जैसे एक ज्ञान गुण है वैसे एक अतीन्द्रिय सुख गुण है। वह सुखगुण संसारावस्था में अशुद्धपना होने से प्रगटरूप में आस्वादरूप नहीं, अशुद्धपना जाने पर प्रगट होता है। वह सुख अतीन्द्रिय परमात्मा को है। उस सुख को बताने के लिए कोई दृष्टान्त चारों गतियों में नहीं। इसलिए चारों गतियाँ दुःखरूप हैं। इसलिए ऐसा कहा है कि उसका जो शुद्ध स्वरूप अनुभव करे वही जीव परमात्मा है। जीव को सुख को जानना योग्य है। इससे शुद्ध स्वरूप अनुभव करना अतीन्द्रिय सुख है, यही सच्चा भाव है।

प्रश्न—किस कारण से जीव शुद्ध होता है ?

उत्तर—शुद्ध का अनुभव करनेसे शुद्ध होता है।

शुद्ध है बुद्धि जिसकी ऐसा जो जीव द्रव्य पिंडरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय को मेटकर अथवा मूल से ही सत्ता को मेटकर तथा बलपूर्वक मिथ्यात्वरूप (जीव का) परिणाम मूल से उखाड़ कर शुद्ध स्वरूप का निरन्तर अनुभवन करे वह निश्चय से अतीतकाल, वर्तमान काल तथा आगामी काल संबंधी बंध अथवा मोह से मुक्त होता है।

भावार्थ—जो त्रिकाल संस्काररूप शरीरादि में एकत्वबुद्धि है उसको मिटाकर जो जीव शुद्ध जीव का अनुभवन करे सो जीव निश्चय से कर्म से मुक्त होता है ॥१२॥

सवैया—कोऊ बुद्धिवंत नर निरखे शरीर घर
भेद ज्ञान दृष्टि से विचारै वस्तु वासतो।
अतीत अनागत वर्तमान मोहरस,
भीग्यो चिदानन्द लखे बंध में विलासतो॥
बंधको विडारि महा मोह को स्वभाव डारि,
आतम को ध्यान करे देखे परमागम तो।
करम कलंक पंक रहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतो॥१२॥

वसंततिलका

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिः प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्॥१३॥

चेतन द्रव्य (निश्चय नय से) अशुद्ध परिणमन से रहित, सर्वकाल, सर्वांग में, ज्ञानगुण के समूह रूप विद्यमान है अर्थात् ज्ञानपुंज है। (व्यवहार-नय से) आत्मा किस प्रकार शुद्ध होता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि आत्मा स्वयं ही स्वयं में प्रविष्ट होकर शुद्ध होता है। भावार्थ— आत्मानुभव परद्रव्य की सहायता से रहित है। इससे स्वयं में ही आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है।

प्रश्न—यहां पर तो ऐसा कहा कि आत्मानुभव करने से आत्मा शुद्ध होता है, और कहीं पर कहा कि ज्ञानगुणमात्र अनुभव करने से आत्माशुद्ध होता है। सो इन दोनों बातों में विशेष अन्तर पड़ गया।

उत्तर—अन्तर तो कुछ नहीं है। शुद्ध वस्तु स्वभाव है जिसका (शुद्ध नय से) ऐसी जो आत्मा है उसकी स्वानुभूति अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से आस्वाद ही ज्ञानानुभूति है। दूसरे शब्दों में निरुपाधिरूप जीवद्रव्य जैसा है उसका वैसा ही प्रत्यक्ष आस्वाद आवे उसी का नाम शुद्धात्मानुभव कहाता है। उसी को ज्ञानानुभव कहा है। नामभेद है वस्तुभेद नहीं। ऐसा जानो कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। तब और भी यह संशय होता है कि फिर द्वादशांग ज्ञान को क्यों अपूर्व लब्धि कहा ? इसका समाधान— द्वादशांग ज्ञान भी विकल्प है। उसमें (द्वादशांग में) ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग

है इसलिए शुद्धात्मानुभूति होने पर शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन कुछ नहीं है ॥१३॥

सवैया शुद्ध नयातम आतम की अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई ।
वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई ॥
यों सरवंग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई ।
मेटि अशुद्ध विभाव दशा तब, सिद्ध स्वरूप की प्रापति होई ॥१३॥

पृथ्वी छन्द

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

जो शुद्ध ज्ञानमात्र वस्तु उत्कृष्ट है, खण्डित नहीं परिपूर्ण है, आकुलता से रहित है, अन्दर-बाहर प्रकाशरूप परिणमती है, स्वयं सिद्ध है, अपने गुण-पर्याय से धाराप्रवाहरूप परिणमती है; जो ज्ञानपुंज त्रिकाल ही चेतन स्वरूप का आधारभूत है, ज्ञान परिणमन से भरा हुआ है, और जो उसी प्रकार सर्वांग ही चेतन है । जिस प्रकार नमक की डली सर्वांग ही खारी होती है; वह ज्ञानमात्र वस्तु मुझे प्रकट हो । भावार्थ –इन्द्रिय ज्ञान खण्डित है और यद्यपि चेतन वर्तमान काल में उस रूप परिणम रहा है तथापि उसका (निश्चय से) स्वरूप तो अतीन्द्रियज्ञान ही है । संसारी अवस्था में जीव कर्मजनित सुखदुःखरूप परिणमता है परन्तु स्वाभाविक सुख तो निज स्वरूप ही है । जीव वस्तु असंख्यात प्रदेशी है और ज्ञानगुण उसके सब प्रदेशों में एक-सा परिणमता है । किसी प्रदेश में कम ज्यादा नहीं है ॥१४॥

सवैया –अपने ही गुण परजाय सों प्रवाह रूप,
परिणयो तिहूं काल अपने आधार सों ।
अन्तर बाहर परकाशवान एक रस,
क्षीणता न गहे भिन्न रहे भौ विकार सों ॥
चेतन के रस सरवंग भरि रह्या जीव,
जैसे लूण-कांकर भर्यो है रस क्षार सों ।

पूरण स्वरूप अति उज्ज्वल विज्ञानघन,
मोको होहु प्रगट विशेष निरवार सो ॥१४॥

अनुष्टुप

एषज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

(साधक) सकल कर्मक्षय लक्षण वाले मोक्ष को उपादेयरूप अनुभव करता है। जो अपना आत्मा (शुद्ध चैतन्य द्रव्य) ज्ञान अर्थात् स्वपरग्राहक शक्ति का पुंज है और समस्त विकल्प से रहित है, उसका सदाकाल अनुभव करो। दो अवस्थाओं में भेद करके ऐसा भाव किया है कि साध्य तो सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष है और साधक है उसका कारण शुद्धोपयोग लक्षण शुद्धात्मानुभव।

भावार्थ—एक ही जीवद्रव्य कारणरूप तो अपने में ही परिणमन करता है और कार्यरूप भी अपने में ही परिणमन करता है। इसमें मोक्ष जाने तक द्रव्यान्तर का कोई चारा नहीं। इससे शुद्धानुभव करिये ॥१५॥

कवित्त—जहां ध्रुव धर्म कर्मक्षय लक्षण,
सिद्धि समाधि साध्यपद सोई।
शुद्धोपयोग जोग जहिं मंडित,
साधक ताहि कहे सब कोई॥
यो परतक्ष परोक्ष स्वरूप सो,
साधक साध्य अवस्था दोई।
दुहुको एक ज्ञान संचय करि,
सेवे शिव वंछक[1] थिर होई ॥१५॥

अनुष्टुप

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

आत्मा अर्थात् चेतन द्रव्य एक प्रकार भी है तथा अनेक प्रकार भी

---
१. वांछा रखने वाला

है। लेकिन भेद करने पर एक ही जीव में दर्शन अर्थात् सामान्यरूप से अर्थग्राहक शक्ति, ज्ञान अर्थात् विशेषरूप से अर्थग्राहक शक्ति तथा चारित्र अर्थात् शुद्धत्व शक्ति नाना ही है इसलिए वह अनेक रूप है— ऐसा व्यवहार है। और आत्मा अर्थात् चेतन द्रव्य निर्मल है तथा अपने आप में ही निर्भेद है, ऐसा निश्चय नय से कहा है। इस प्रकार एक ही समय में आत्मा अनेक भी है एक भी है ऐसा प्रमाण ज्ञान से सिद्ध होता है। (प्रमाण कहते है उस ज्ञान को जो एक साथ अनेक धर्मों को ग्रहण करता है)

भावार्थ—वस्तु को अभेद एकरूप देखना निश्चय दृष्टि है। उसे अनेक गुण व स्वभावरूप देखना व्यवहारदृष्टि है। दोनोंरूप एक समय में एक साथ देखना प्रमाण दृष्टि है। आत्मा में दर्शन, ज्ञान व चारित्रगुण हैं इसलिए अनेकरूप है। वह अपने इन गुणों में अभेद है इसलिए एकरूप है। एकरूप अनुभव करना स्वानुभव का साधक है ॥१६॥

कवित्त— दरसन ज्ञान चरण त्रिगुणातम, समलरूप कहिए विवहार।
निहचै दृष्टि एकरस चेतन, भेद रहित अविचल अविकार ॥
सम्यक्‌दशा प्रमाणउभयनय, निर्मल समल एक ही बार।
यों समकाल जीव की परिणति, कहैं जिनेंद गहै गणधार ॥१६॥

अनुष्टुप

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

यद्यपि द्रव्य दृष्टि से जीव द्रव्य शुद्ध है तो भी गुण-गुणीरूप भेद दृष्टि से वह अनेक है। उसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन गुणरूप परिणमने के कारण भेद बुद्धि भी घटती है ॥१७॥

दोहा— एक रूप आतम दरब, ज्ञान-चरण-दृग तीन।
भेद भाव परिणाम यों, विवहारे सो मलीन ॥१७॥

अनुष्टुप

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

शुद्ध द्रव्य दृष्टि से जहां ज्ञानमात्र प्रकाश-स्वरूप प्रगट है, वहां शुद्ध जीव वस्तु निर्मल है, निर्विकल्प है।

भावार्थ—शुद्ध निर्भेद वस्तु मात्र को ग्रहण करने वाला ज्ञान निश्चय नय कहलाता है। इस निश्चय नय से जीव पदार्थ सर्व भेद रहित शुद्ध है। सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म अथवा परद्रव्य जिसमें ज्ञेयरूप है ऐसा जो जीव का भावान्तर अर्थात् उपाधिरूप विभावभाव है उसको निज स्वरूप मेटने वाला है ॥१८॥

दोहा—यद्यपि समल व्यवहार सों, पर्ययशक्ति अनेक।
तदपि नियत नय देखिए, शुद्ध निरंजन एक ॥१८॥

अनुष्टुप

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

चेतन द्रव्य का नयों के पक्षपात से मलीन अमलीन रूप विचार करने से भी साध्य की सिद्धि नहीं, ऐसा निश्चय जानो। भावार्थ—श्रुतज्ञान से आत्मस्वरूप का विचार करने से बहुत विकल्प उत्पन्न होते हैं। एक पक्ष से (व्यवहार नय से) विचारने से आत्मा अनेकरूप है, दूसरे पक्ष से (निश्चय नय से) विचारने से आत्मा अभेद रूप है। इस तरह विचार करना भी स्वरूप अनुभव नहीं।

प्रश्न—विचार करना अनुभव नहीं है तो फिर अनुभव है क्या?

उत्तर—प्रत्यक्षरूप से वस्तु का स्वाद लेना अनुभव है।

शुद्ध स्वरूप का अवलोकन (दर्शन), शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष जानना (ज्ञान) और शुद्ध स्वरूप का आचरण (चारित्र), इन्हीं के द्वारा साध्य अर्थात् सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष प्राप्त होगा। भावार्थ—शुद्ध स्वरूप के अनुभव करने से मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रश्न—इतना ही मोक्षमार्ग है या कुछ और भी मोक्षमार्ग है?

उत्तर—इतना ही मोक्ष मार्ग है। अन्य प्रकार साध्य सिद्धि नहीं ॥१९॥

दोहा—एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ॥१९॥

मालिनी छन्द

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया,
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं,
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

जो आत्म ज्योति प्रकाशरूप परिणमन करती है, निर्मल है, जिसका अनन्तज्ञान लक्षण है, उस चैतन्य प्रकाशमय आत्मज्योति का निरन्तर प्रत्यक्ष रूप आस्वादन करने में ही साध्यसिद्धि अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति है, अन्य प्रकार से नहीं है, नहीं है, ऐसा निश्चय है। व्यवहार दृष्टि से उस आत्मज्योति का भेदरूप ग्रहण है परन्तु शुद्ध दृष्टि से वह (भेद) घटित नहीं होता अर्थात आत्मज्योति भेदरूप नहीं है ॥२०॥

सवैया—जाके पद सोहत सुलक्षण अनंत ज्ञान,
विमल विकासवंत ज्योति लह लही है।
यद्यपि त्रिविधरूप व्यवहार में तथापि,
एकता न तजे यों नियत अंग कही है ॥
सो है जीव कैसी हू जुगति के सदीव ताके,
ध्यान करवेकू मेरी मनसा उमगी है।
जाते अविचल रिद्धि होत, और भांति सिद्धि नाहिं,
नाहि नाहि यामें धोखा नाहि सही है ॥२०॥

मालिनी छन्द

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव २१ ॥२१॥

अनन्त संसार के भ्रमण में जब किसी प्रकार काललब्धि प्राप्त हो तब सम्यक्त्व उपजता है, तब अनुभव होता है। या तो मिथ्यात्व कर्म के उपशम से स्वयं ही, बिना उपदेश के अनुभव होता है या अंतरंग में मिथ्यात्व कर्म के

उपशम से तथा बहिरंग में गुरु के द्वारा सूत्र का उपदेश पाकर अनुभव होता है। इस तरह कोई निकट भव्य संसारी जीव शुद्धजीववस्तु का आस्वाद पाता है जिसका स्व-स्वरूप और परस्वरूप को अलग-अलग करने वाला विज्ञान अर्थात् जाननपना मूल है।

प्रश्न वह अनुभव पाना कैसा है?

उत्तर - निर्विकार है। गुणपर्याय से निर्विकार सकल द्रव्य जिसमें, दर्पण की तरह रागद्वेष से रहित निरन्तर प्रतिबिम्बरूप गर्भित है, ऐसा वह जीव है।

भावार्थ - जिस जीव को शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है उसके ज्ञान में सकल पदार्थ उद्दीप्त होते हैं। भाव अर्थात् गुणपर्यायों का जिसको निर्विकार रूप अनुभव है उसी के ज्ञान में सकल पदार्थ गर्भित है ।।२१।।

सवैया कै अपनो पद आप संभारत, कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
भेद विज्ञान जग्यो जिन्ह के, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी ।।
भाव अनन्त भये प्रतिबिम्बित, जीवन मोक्ष दशा ठहरानी।
ते नर दर्पण ज्यों अविकार, रहें थिररूप सदा सुख दानी ।।२१।।

मालिनी छन्द

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकाम्
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।।२२।।

हे जगत की जीव राशि! अनादि काल से लगा हुआ मोह अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम सर्वथा तत्काल छोड़ो। भावार्थ--शरीरादि परद्रव्य से जीव की एकत्व बुद्धि हो रही है। उसका सूक्ष्म काल मात्र के लिए भी आदर करना योग्य नहीं।

शुद्ध चैतन्यवस्तु स्वानुभव से प्रत्यक्षरूप आस्वादो। वह शुद्ध चैतन्य वस्तु अर्थात् ज्ञान शुद्ध स्वरूप का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीवों को अत्यन्त सुखकारी है तथा त्रिकाल ही प्रकाशरूप है।

प्रश्न - ऐसा करने से कार्य सिद्धि कैसे होगी?

उत्तर—मोह का त्याग तथा ज्ञान वस्तु का अनुभव बारम्बार अभ्यास

करने में।

जीव निःसन्देह शुद्ध है। चेतन द्रव्य का अनात्मा अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इत्यादि समस्त विभाव परिणामों में तादात्म्य किसी भी अतीत-अनागत-वर्तमान काल की समय-घड़ी-पहर-दिन-वर्ष में, किसी भी तरह नहीं ठहरता।

भावार्थ – जीव द्रव्य, धातु-पाषाण संयोग की तरह पुद्गल कर्म से मिला हुआ ही चला आ रहा है। मिलने से मिथ्यात्व, रागद्वेषरूप, विभाव चेतन परिणामरूप परिणमता ही आया है। इस तरह परिणमते ऐसी दशा हो गई कि जो जीवद्रव्य का निज स्वरूप है केवलज्ञान-केवलदर्शन-अतीन्द्रियसुख केवलवीर्य उस अपने स्वरूप से तो जीवद्रव्य भ्रष्ट हुआ तथा मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम से परिणमित हुआ। ज्ञानपना भी छूटा। जीव का निज स्वरूप अनन्त चतुष्टय है। शरीर सुख-दुख-मोह-राग-द्वेष इत्यादि समस्त पुद्गल कर्म की उपाधि है, जीव का स्वरूप नहीं ऐसी प्रतीति भी छूटी। प्रतीति छूटने से जीव मिथ्यादृष्ट हुआ। मिथ्यादृष्टि होने से ज्ञानावरण कर्म बंध करने वाला हुआ, उस कर्म बंध के उदय होने से जीव चार गतियों में भ्रमण करता है। इस प्रकार ही संसार की परिपाटी है। इस प्रकार संसार में भ्रमते-भ्रमते किसी भव्यजीव का जब निकट संसार आ जाता है तब जीव सम्यक्त्व ग्रहण करता है। सम्यक्त्व ग्रहण से पुद्गलपिंडरूप मिथ्यात्वकर्मों का उदय मिटता है, तथा मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम मिटता है। विभाव परिणाम के मिटने से शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। ऐसी सामग्री मिलने पर जीवद्रव्य पुद्गलकर्म से तथा विभाव परिणाम से सर्वथा भिन्न होता हुआ अपने अनन्तचतुष्टय को प्राप्त होता है। दृष्टान्त – जैसे सोना धातु-पाषाण में ही मिला आया है। तथापि आग का संयोग पाकर उस पाषाण से सोना भिन्न हो जाता है ॥२२॥

सवैया – यही वर्तमान समै भव्यन को मिट्यो मोह,
लग्यो है अनादि को पग्यो है कर्ममल सों।
उदै करे भेदज्ञान महा रुचि को निधान,
उर को उजारो भारो न्यारो दुंद दल सों॥
जाते थिर रहे अनुभौ विलास गहे फिर,
कबहूं अपनापो न कहे पुद्गल सों।

यह करतूती यों जुदाई करे जगत सों,
पावक ज्यों भिन्न करे कंचन उपल सों ॥२२॥

मालिनी छन्द

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहलीसन्-
ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथविलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

हे भव्य जीव ! शरीर से भिन्न स्वरूप हो। भावार्थ—अनादिकाल से जीवद्रव्य एक संस्काररूप चला आ रहा है। उस जीव को ऐसा कह कर प्रतिबोधित करते हैं कि हे जीव, यह सब जो शरीरादि पर्याय हैं सब पुद्गल कर्म के हैं; तुम्हारे नहीं। इसलिए इन सब पर्य्यायों से अपने आप को भिन्न जान।

भिन्न जानकर, थोड़े ही काल में, शरीर से भिन्न चेतन द्रव्य का, प्रत्यक्षरूप से आस्वादन कर। भावार्थ—शरीर तो अचेतन है, विनश्वर है। शरीर से भिन्न कोई तो आत्मा है, ऐसी प्रतीति तो मिथ्यादृष्टि जीव को भी होती है परन्तु साध्य सिद्धि तो उसमें कुछ नहीं होती। जब जीव द्रव्य के द्रव्यगुणपर्याय स्वरूप का प्रत्यक्ष आस्वाद आवे तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप का कौतूहली अर्थात् स्वरूप देखना चाहने वाला किसी भी प्रकार, किसी भी उपाय से, मर कर भी, शुद्ध जीव स्वरूप को जानने का उपाय करता है। शुद्ध चैतन्य के अनुभव से द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म इत्यादि कर्मरूप पर्याय से जो एक संस्काररूप—मैं देव, मैं मनुष्य, मैं तिर्यंच, मैं नारकी, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं यती, मैं गृहस्थ इत्यादि रूप जो प्रतीति है वह जाती है अर्थात् नष्ट होती है। मोह अर्थात् विपरीत रूप से अनुभव होना। हे जीव ! अपनी ही बुद्धि से तू ही छोड़ सकता है।

भावार्थ—अनुभव ज्ञानमात्र वस्तु है। एकत्वमोह-मिथ्यात्व जीव द्रव्य का विभाव परिणाम है। तो भी इनका आपस में कारण-कार्यपना है। इसका खुलासा—जिस काल जीव को स्वानुभव होता है उस काल मिथ्यात्व

परिणमन मिटता है, उस काल अवश्य स्वानुभव शक्ति होती है।

अनादिनिधन, प्रगटरूप से चेतनारूप परिणमित अपनी शुद्ध चैतन्य वस्तु का स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप से आस्वादन करने से मिथ्यात्व परिणमन मिटता है ॥२३॥

सवैया—बनारसी कहे भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भांति कैसेहू के ऐसो काज कीजियो।
एकहू मुहूरत मिथ्यात्व को विध्वंस होइ,
ज्ञान को जगाय अंस हंस खोज लीजिए॥
वाही को विचार वाको ध्यान यह कौतूहल,
योंही भर जनम परम रस पीजिए।
तजि भववास को विलास सविकाररूप,
अंत करि मोह को अनन्त काल जीजिए॥२३॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतम्,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

शंका—कोई मिथ्यादृष्टि कुवाद मतांतर की स्थापना करता है कि जीव और शरीर एक ही वस्तु है। जिस तरह जैन मानते हैं कि शरीर से जीव भिन्न है। उस तरह नहीं—एक ही है। इसलिए शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति होती है। ऐसा जैन भी मानते हैं कि तीर्थंकर देव त्रिकाल नमस्कार करने योग्य हैं। तीर्थंकर के शरीर की दीप्ति निश्चय से दशों दिशाएं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—चार दिशा, चार कोणरूप विदिशा, ऊर्द्ध और अध:) पवित्र करती है। इस प्रकार तीर्थंकर के शरीर का वर्णन किया है। ऐसे जो तीर्थंकर हैं उनको नमस्कार है। इससे हमको ऐसी प्रतीति हुई कि शरीर और जीव एक है। तीर्थंकर शरीर के तेज से उग्र है, तेजस्वी है जिससे कोटि सूर्य का प्रताप भी रुकता है।

भावार्थ—तीर्थंकर के शरीर में ऐसी दीप्ति है कि यदि करोड़ सूर्य्य होते तो उस दीप्ति से करोड़ सूर्य्य की भी दीप्ति रुकती अर्थात् फीकी पड़ती।

यहां भी शरीर की ही बड़ाई कही गई है।

तीर्थंकर शरीर की शोभा से, देव-मनुष्य-तिर्यंच के अंतरंग को चुरा लेते हैं।

भावार्थ—जीव, तीर्थंकर के शरीर की शोभा को देखकर जैसा सुख मानते हैं वैसा सुख तीन लोक में अन्य वस्तु को देखकर नहीं मानते है। यहां फिर शरीर की बड़ाई है।

तीर्थंकर देव की समस्त त्रिलोक में उत्कृष्ट निरक्षरी वाणी के द्वारा सब जीवों की कर्णेन्द्रियों में त्रिकाल अमृत अर्थात् सुखमई शान्तरस बरसता है।

भावार्थ तीर्थंकर की वाणी सुनना सब जीवों को रुचिकर लगता है, बहुत जीव सुखी होते हैं। यहां भी शरीर की बड़ाई है।

आठ और एक हजार अर्थात् एक हजार आठ लक्षण सहज ही जिनके शरीर के चिह्न है ऐसे है तीर्थंकर।

भावार्थ—तीर्थंकर के शरीर पर शंख, चक्र, गदा, पद्म, कमल, मगर, मच्छ, ध्वजा इत्यादि ऐसी आकृतियों की रेखाएं पड़ती है जिन समस्त गणों की एक हजार आठ गिनती होती है। यहां फिर शरीर की बड़ाई है। तीर्थंकर मोक्षमार्ग का उपदेश करते है। यहां फिर शरीर की बड़ाई है।

इसमें शरीर और जीव एक ही है, हमें तो ऐसी ही प्रतीति है—कोई मिथ्यामत ऐसा मानता है।

समाधान— ग्रंथ के रचयिता तो वचन व्यवहार मात्र से जीव और शरीर को एकरूप कहते है। इसमें ऐसा कहा कि शरीर का स्तोत्र (वन्दन) तो व्यवहार मात्र जीव का स्तोत्र है। द्रव्यदृष्टि से देखने से जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है। इसमें जैसा स्तोत्र कहा वह तो स्वयंसिद्ध झूठा है क्योंकि शरीर का गुण कहने से जीव की स्तुति नहीं होती है। जीव के ज्ञानगुण की स्तुति करने से (जीव की) स्तुति होती है।

प्रश्न—जैसे नगर का स्वामी राजा है इसमें नगर की स्तुति (तारीफ) करने से राजा की स्तुति होती है। उसी तरह शरीर का स्वामी जीव है इसमें शरीर की स्तुति करने से जीव की स्तुति होती है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। राजा के निज (अपने) गुणों की स्तुति करने

में ही राजा की स्तुति होती है। उसी तरह जीव के निज (अपने) चैतन्यगुण की स्तुति करने में ही जीव की स्तुति होती है, ऐसा कहा है ॥२४॥

सवैया—जाके देह द्युति सों दसों दिशा पवित्र भई,
जाके तेज आगे सब तेजवंत रुके हैं।
जाको रूप निरखि थकित महारूपवंत,
जाके वपु वास सों सुवास और लुके हैं ॥
जाकी दिव्य ध्वनि सुनि श्रवण को सुख होत,
जाके तन लक्षन अनेक आय ढूके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुण,
निश्चय निरखि शुद्ध चेतन सों चुके हैं ॥२४॥

आर्या

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

राजग्राम की परिक्रमा करती खाई इतनी गहरी है कि मानों पाताल अर्थात् अधोलोक का जल पीती है। नगर कोट इतना ऊंचा है कि जैसे आकाश को ही निगल रहा हो। नगर को चहुँदिश घेरे ऐसे घने उपवन हैं कि मानो समस्त भूमितल पर छा जायेंगे। ऐसा वह नगर है।

भावार्थ—नगर के चारों तरफ घना बाग है। इस तरह नगर की स्तुति करने से राजा की स्तुति नहीं होती है। यहां पर खाई का, कोट का, बाग का वर्णन किया वह तो राजा के गुण नहीं हैं। राजा के गुण हैं दान, पौरुष, ज्ञान—उनकी स्तुति करने से राजा की स्तुति होती है ॥२५॥

सवैया—ऊंचे-ऊंचे गढ़ के कांगुरे यों विराजत हैं,
मानों नभ लोक लीलिवेको दांत दियो है।
सोहे चहुं ओर उपवन की सघनताई,
घेरा कर मानों भूमिलोक घेर लियो है ॥
गहरी गंभीर खाई ताकी उपमा बताई,
नीचो करि आनन पाताल जल पियो है।
ऐसो है नगर यामें नृप को न अंग कोऊ,
यों ही चिदानन्द सों शरीर भिन्न कियो है ॥२५॥

आर्या

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

तीर्थंकर के आयुपर्यंत एक रूप, बालकपन—तरुणापन—बुढ़ापे के विकार से रहित, सर्वांग में सुस्थित, बिना यत्न के आश्चर्यकारी लावण्य से पूर्ण समुद्र की तरह निश्चल शरीर की शोभा जयवंत हो।

भावार्थ—जैसे वायु से रहित समुद्र निश्चल है वैसे ही तीर्थंकर का शरीर निश्चल है। इस प्रकार शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति नहीं होती है। क्योंकि शरीर का गुण आत्मा में नहीं है। आत्मा का ज्ञानगुण है। ज्ञानगुण की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति होती है ॥२६॥

सवैया—**जामें बालपनो तरुनापो वृद्धपनो नाहि,**
आयुपर्यंत महारूप महाबल है।
बिना ही जतन जाके तन में अनेक गुन,
अतिसय विराजमान काया निर्मल है ॥
जैसे बिन पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसे जाको मन अरु आसन अचल है।
ऐसो जिनराज जयवन्त होउ जगत में,
जाको शुभगति महासुकृति को फल है ॥२६॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्वतः
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैवसैवंभवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

इस प्रकार, तीर्थंकर अथवा परमेश्वर के शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति होती है—ऐसा जो मिथ्यामति जीव कहते हैं उनको उत्तर दिया है कि शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति नहीं। आत्मा के ज्ञान गुण की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति है। इस उत्तर से जिस आत्मा का संदेह दूर हो गया उसका समस्त कर्म की उपाधि के साथ एक द्रव्यपना नहीं होता है। जैसे मिथ्यादृष्टि कहता था जीव की स्तुति वैसे नहीं होती है कैसे होती है यह आगे बताते हैं।

शरीरादि तथा चेतन द्रव्य का कथन मात्र के लिए एकपना है। जैसे—सोने और चांदी को मिलाकर एक पासा बना ले तो कहने के लिए तो उस सारे को सोना ही कहा जाता है। इसी प्रकार जीव और कर्म अनादि से एक क्षेत्र संबंध रूप मिला आया है इसलिए कथन मात्र के लिए उसे जीव ही कहते है। परन्तु दूसरे पक्ष से द्रव्य के निज स्वरूप के विचार से, निश्चय ही, जीव-कर्म का एकपना नहीं है।

भावार्थ—सोना-चांदी यद्यपि एक क्षेत्र मिला है, एक पिंडरूप है, सोना पीलापन, भारीपन चिकनापन इस प्रकार अपने गुण लिए हुए है और चांदी भी अपना श्वेतगुण लिए हुये है। इसलिए एकपना कहना झूठा है। इसी प्रकार जीव-कर्म यद्यपि अनादि-काल से बंध-पर्यायरूप मिला आया है, एक पिंडरूप है तथापि जीव द्रव्य में अपना ज्ञानगुण विराजमान है। कर्म भी पुद्गल द्रव्य का अचेतन गुण लिए हुये हैं। इसलिए एकपना कहना झूठा है तथा स्तुति करने में भेद है।

व्यवहार से अर्थात् बंध-पर्यायरूप एक क्षेत्रावगाह होने की दृष्टि से, शरीर की स्तुति से जीव की स्तुति होती है परन्तु दूसरे पक्ष से शुद्ध जीव द्रव्य के विचार से—नहीं होती है।

भावार्थ—यद्यपि कहने में 'श्वेत स्वर्ण' आता है तथापि श्वेतपना गुण चांदी का है। इसलिए सोना सफेद है ऐसा कहना झूठा है। दो तीर्थंकर रक्तवर्ण थे, दो कृष्ण, दो नील, दो पन्नावर्ण तथा सोलह स्वर्ण के रंग के थे यद्यपि ऐसा कहने में आता है तथापि श्वेत, रक्त, पीतादि पुद्गल द्रव्य के गुण हैं, जीव के गुण नहीं है। इस तरह श्वेत, ,रक्त, पीतादि कहने से नहीं, ज्ञानगुण कहने से जीव की स्तुति है।

प्रश्न—फिर शरीर की स्तुति करने से जीव की स्तुति कैसे होती है?

उत्तर—उसको चिद्रूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप कहने से होती है।

शुद्ध जीव द्रव्य के विचार से, शुद्ध ज्ञानादि का बारंबार वर्णन-स्मरण-अभ्यास करने से निःसंदेह जीव द्रव्य की स्तुति होती है।

भावार्थ—पीला, भारी, चिकना सोना कहना सोने की स्वरूप स्तुति है। केवली कैसा है? केवली ऐसा है कि जिसने पहले तो शुद्ध जीव स्वरूप का अनुभव करके इन्द्रियों को तथा विषय-कषाय को जीता और बाद में जड़ से ही उनका क्षय कर दिया। जो सकल कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान—केवलदर्शन—केवलवीर्य—केवल सुख रूप विराजमान है—ऐसा कहने से, जानने से तथा अनुभव करने से केवली की गुणस्वरूप स्तुति होती है। इस तरह यह

अर्थ ठहरा कि जीव-कर्म एक नहीं भिन्न-भिन्न है। यदि जीव-कर्म एक होता तो इतना स्तुति भेद कैसे होता ? ॥२७॥

कवित्त—तनु-चेतन व्यवहार एक से,
निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोई।
तनु की स्तुति विवहार जीव थुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोई॥
जिन सो जीव, जीव सो जिनवर,
तनु-जिन एक न माने कोई।
ता कारण तनु की जो थुति,
सो जिनवर की थुति नहीं होई ॥२७॥

मालिनी छन्द

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुरन्नेक एव ॥२८॥

इस प्रकार भेदकर समझाए जाने पर त्रिलोक में ऐसा कौन जीव है जिसकी ज्ञानशक्ति, स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने के लिए अब भी परिणमनशील नहीं होगी !

भावार्थ—जीव और कर्म का भिन्नपना अति प्रकट करके दिखाया, उसे सुन कर भी जिस जीव को ज्ञान नहीं उपजता, वह भाग्यहीन है।

जीवादि सकल द्रव्य के गुण-पर्याय से परिचित भगवान सर्वज्ञ ने द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक नयों के पक्षपात का विभागभेद निरूपण करके, भिन्न 'स्वरूप-वस्तु' के साधनार्थ, जीव द्रव्य को अत्यन्त निःसंदेहरूप से, इस प्रकार प्रकट कर दिया है जैसे किसी छिपी हुई सम्पत्ति को प्रकट कर देते हैं। परिकर्म संयोग से ढंका होने से चेतन द्रव्य और कर्मपिंड की एकता का भ्रम पैदा होता था सो भ्रांति श्री तीर्थंकर का उपदेश सुनकर मिटती है और कर्म संयोग से भिन्न शुद्ध जीव स्वरूप का अनुभव होता है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व

है। एक चैतन्यरूप निश्चय से प्रकटरूप है तथा उसके स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वभाव का उत्कर्ष पूज्य है ॥२८॥

सवैया ज्यों चिरकाल गड़ी वसुधा महि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जो दृगवंत तिन्हैं सब सूझी॥
त्यों यह आतम की अनुभूति,
पड़ी जड़भाव अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन वेदि विचच्छन बूझी ॥२८॥

मालिनी छन्द

अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगाद-
नवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

जितने काल शुद्ध चैतन्य द्रव्य का प्रत्यक्षरूप से जानपना है, उतने काल तक, उसी समय, सहज ही अपने ही परिणमनरूप अनुभूति होगी। वह अनुभूति, शुद्ध चैतन्यरूप से भिन्न जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म संबंधी समस्त गुणस्थान–मार्गणास्थानरूप, राग-द्वेष-मोह इत्यादि बहुत से विकल्प अथवा भावरूप परिणाम है, उनसे सर्वथा रहित है।

भावार्थ जितने भी विभाव परिणाम, विकल्प अथवा मन-वचन-उपचार से द्रव्य-गुण-पर्याय भेद, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भेद है उनके विकल्पों से रहित शुद्ध चेतना मात्र के आस्वादरूप ज्ञान का नाम अनुभव कहा है।

शुद्ध चैतन्य मात्र से भिन्न समस्त द्रव्यकर्म–भावकर्म नोकर्म आदि भावों का त्याग कि यह समस्त झूठे है, जीव का स्वरूप नहीं, जिस समय तथा जितने समय ऐसा जो प्रत्यक्ष आस्वादरूप ज्ञान है उसको दृष्टान्त से समझाते है। कोई पुरुष धोबी के घर से अपने कपड़े के धोखे में पराया कपड़ा ले आया और उसको वैसे ही, बिना जाने पहन कर अपना जान लिया। बाद में उस कपड़े के मालिक ने कोना (निशान) दिखा कर कहा कि यह

कपड़ा तो मेरा है और मेरा ही है। ऐसा सुन कर उसने देखा, पहचाना और जाना कि हमारा तो निशान मिला नहीं। इसलिए निश्चय ही यह कपड़ा हमारा नहीं, पराया है। ऐसी प्रतीति होने पर त्याग होना घटित होता है। कपड़ा अभी पहना हुआ ही है फिर भी उसका त्याग घटित होता है क्योंकि उसमें मालिकपना छूट गया। इसी प्रकार जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि है जो कर्म-संयोग जनित अवस्था है। शरीर दुःख-सुख-राग-द्वेषादि विभाव पर्यायों को अपना ही जानता है और उन्हीं रूप प्रवर्त्तता है। हेय-उपादेय नहीं जानता है। इसी प्रकार अनन्तकाल भ्रमता हुआ जब परमगुरु का उसको ऐसा उपदेश मिले कि हे जीव! यह सब जो शरीर-सुख-दुख-राग-द्वेष-मोह को तू अपना जान रहा है और जिनमें तू रत हुआ है वे तो सब ही तेरे नहीं हैं, अनादि कर्म-संयोग की उपाधि है तो ऐसा उपदेश बराबर सुनते-सुनते जीव को विचार उपजता है कि जीव का लक्षण तो शुद्ध चिद्रूप है इसलिए इतनी उपाधियां तो जीव की नहीं और उसका थोड़ा संसार शेष रह जाता है। जिस समय ऐसा निश्चय हुआ कि ये सब कर्म-संयोग की उपाधि हैं, उसी समय सकल विभाव-भाव का त्याग है, शरीर-सुख-दुख जैसा था अभी वैसा ही है, परन्तु परिणामों में त्याग है। जिसमें मालिकपना छूटा उसका नाम अनुभव है, उसका नाम सम्यक्त्व है। ऐसे दृष्टान्त की तरह किसी जीव की दृष्टि उपजी, अर्थात् जिसको शुद्ध चिद्रूप का अनुभव हुआ, उसके अनादिकाल से चले आए कर्म-पर्याय से एकत्वपने के संस्कार नहीं रहे। वह तद्रूप परिणमन करता है।

भावार्थ—यदि कोई कहे कि शरीर-सुख-दुःख-राग-द्वेष-मोह इन सब की त्यागबुद्धि कुछ और है—कारणरूप है और शुद्ध चिद्रूपमात्र का अनुभव कुछ और है—कार्यरूप है—तो उसको इस प्रकार उत्तर देते हैं : राग-द्वेष-मोह-शरीर-सुख-दुःखादि विभाव परिणमन जीव करता था। जिस समय ऐसा अशुद्ध परिणमन संस्कार छूटा उसी समय उसका (शुद्ध चिद्रूपमात्र का) अनुभव है।

विवरण—शुद्ध चेतना मात्र का स्वाद आए बिना अशुद्ध भाव परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता नहीं। इसमें जो कुछ है, सो, एक ही काल, एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान, एक ही स्वाद है। जिसको शुद्ध अनुभव हुआ है वह जीव कैसा है यह आगे कहते हैं ॥२९॥

सवैया—जैसे कोउ जन गयो धोबी के सदन तिनि,
पहर्यो परायो वस्त्र मेरो मानि रह्यो है।

धनी देखि कह्यो भइया यह तो हमारे वस्त्र,
चीन्हो पहचानत ही त्यागभाव लह्यो है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गल सो संजोगी जीव,
संग के ममत्व सों विभाव तामें बह्यो है।
भेद-ज्ञान भयो जब आपा पर जान्यो तब,
न्यारो परभाव सों सुभाव निज गह्यो है ॥२९॥

त्रोटक छन्द

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति नास्ति मम कश्चनमोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

विभाव परिणाम जिससे छूट गया है, मैं ऐसी अनादि निधन चिद्रूप वस्तु हूं जिसको ऐसा स्वाद कि मैं समस्त भेद बुद्धि से रहित शुद्ध वस्तु मात्र हूं स्वयं ही, उपदेश बिना ही, स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप से आता है, ऐसी चिद्रूप वस्तु के भाव से उसके असंख्यात प्रदेश चैतन्यपने से सम्पूर्ण है।

भावार्थ—जो कोई ऐसा जानता है कि जैन सिद्धान्त का बारबार अभ्यास करने से दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है, सो ऐसा नहीं है। मिथ्यात्व कर्म के रस-पाक मिटने से मिथ्यात्व भावरूप परिणमन मिटता है तब वस्तु स्वरूप का जो प्रत्यक्ष आस्वाद आता है उसका नाम अनुभव है। अनुभवशील जीव अनुभव करता है कि मेरे मोह अर्थात् समस्त विभावरूप अशुद्ध परिणाम द्रव्यपिंडरूप और जीव संबंधी भाव परिणमनरूप—सर्वथा ही—नहीं है, नहीं है। मैं समस्त विकल्पों से रहित, चेतनपने का समूह उसके उद्योत की निधि अर्थात् समुद्र हूं।

भावार्थ कोई यह न जान ले कि सब ही नास्तिरूप होता है इसलिए ऐसा कहा कि शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तु तो है ही ॥३०॥

अडिल्ल— कहे विचक्षण पुरुष सदा हूं एक हों।
अपनेरससूं भर्यो आपकी टेक हों ॥
मोहकर्म्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
शुद्ध चेतन सिंधु हमारो रूप है ॥३०॥

मालिनी

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकं ।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

पूर्वोक्त प्रकार से यही जीवद्रव्य, अन्य द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न शुद्ध चिद्रूपमात्र, शुद्ध चैतन्यरूप होते हुए, शुद्ध पर्यायरूप जैसा था वैसा प्रकट हुआ। आत्मा का निर्भेद, निर्विकल्प चिद्रूप वस्तु जैसी है उसी रूप परिणाम हुआ। दर्शन अर्थात् श्रद्धा-रुचि-प्रतीति, ज्ञान, चारित्र अर्थात् शुद्ध परिणति, ऐसा जो रत्नत्रय है उस रूप उसने परिणमन किया। और उस जीव ने, जिसका क्रीड़ावन अर्थात् आराम का स्थल अपनी आत्मा में ही है, सकल-कर्म-क्षय लक्षण मोक्ष को प्रकट किया है।

भावार्थ—जीव द्रव्यशक्ति रूप से तो शुद्ध था और कर्म संजोग से अशुद्ध रूप परिणमा था। अशुद्धपना गया तो जैसा था तैसा हो गया। जैसे सोने को शोधने में कालिमा जाने पर सोनामात्र रह जाता है उसी तरह मोह-राग-द्वेष विभाव परिणाम मात्र के जाने पर सहज ही शुद्ध चेतनमात्र रह जाता है। मिथ्यात्व परिणति को त्यागकर, शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने से साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ऐसा कथन तो सर्व जैन सिद्धान्त में है और यह ही प्रमाण है। अशुद्ध अवस्था में चेतन 'पर' रूप परिणमता था, वह तो मिट गया, अब स्वरूप परिणमन मात्र रह गया ॥३१॥

सवैया- तत्त्व की प्रतीति सों लख्यो है निज-परगुण,
दृग-ज्ञान चरण त्रिविध परिणयो है।
बसद विवेक आयो आछो बिसराम पायो,
आपुही में अपनो सहारो सोधि लयो है॥
कहत बनारसी गहत पुरुषारथ को
सहज सुभाव सों विभाव मिटि गयो है।
पन्ना को पकाए जैसे कंचन विमल होत,
तैसे शुद्ध चेतन प्रकाश रूप भयो है ॥३१॥

उपेन्द्रवज्रा

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।

आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण

प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

इस प्रकार भगवान अर्थात् जीवद्रव्य, जिसका सदाकाल प्रत्यक्ष चेतन स्वरूप है और जो ज्ञान मात्र का पात्र है, जिसने विपरीत अनुभव मिथ्यारूप परिणाम को जड़ से उखाड़ कर दूर किया, शुद्ध स्वरूप का आच्छादन करने वाले परदे को समूल नष्ट करके, शुद्धांग स्वरूप दिखा कर प्रकट हुआ।

भावार्थ— इस ग्रन्थ का नाम है नाटक। रंगमंच पर भी प्रथम ही शुद्धांग नाचना है तथा यहां भी प्रथम ही जीव का शुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ। रंगमंच पर भी पहले कपड़े का पर्दा पड़ा होता है उसको हटा कर शुद्धांग नाचना है। यहां भी अनादिकाल से मिथ्यात्व परिणति है जिसके छूटने पर शुद्ध स्वरूप परिणमना है।

हे समस्त लोक में विद्यमान जीव राशि! शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप ज्ञानरस में, जो सर्वोत्कृष्ट है, उपादेय है, लोकालोक का ज्ञाता है, एक ही बार ही अति ही मग्न हो, तन्मय हो।

भावार्थ—रंगमंच पर भी शुद्धांग प्रदर्शन करना है वहां जितने भी देखने वाले हैं एक ही बार में मग्न होकर देखते हैं तथा जीव का स्वरूप शुद्ध रूप से दिखाया जाय तो सब ही जीवों को अनुभव करना योग्य है ॥३२॥

सवैया **जैसे कोउ पातुर बनाय वस्त्र आभरण,**
आवत अखारे निसि आड़ोपट करिकें।
दुहूं ओर दीवटि संवारि पट दूर कीजे,
सकल सभा के लोक देखें दृष्टि धरिकें॥

तैसे ज्ञान सागर मिथ्यात ग्रन्थि भेदि करि,
उमग्यो प्रगट रह्यो तिहूं लोक भरिकें।
ऐसो उपदेश मुनि चाहिए जगत जीव,
शुद्धता संभारे जग जालसों निकरिकें॥३२॥

दोहा—जीवतत्त्व अधिकार यह, प्रगट कह्यो समझाय।
अब अधिकार अजीव को, सुनो चतुर मनलाय॥

॥ इति जीव-अधिकार ॥

द्वितीय अध्याय

अजीव-अधिकार

मालिनी

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ॥
आत्मारामम‌नन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं ।
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥१॥

इस प्रकार ज्ञान अर्थात् जीव द्रव्य जैसा है वैसा ही प्रकट होता है। शुद्धांग तत्त्वरूप जीव का निरूपण विधिरूप (अस्तिरूप) है तथा उसी जीव का प्रतिषेध (नास्ति) रूप भी कथन होता है। जैसे—शुद्ध जीव है, टंकोत्कीर्ण है, चिद्रूप है—ऐसा कथन तो विधि (अस्ति) रूप है और जीव का स्वरूप गुणस्थान नहीं, नोकर्म नहीं, भावकर्म नहीं- ऐसा कहना प्रतिषेध (नास्ति रूप कथन है। जो जीव अंतःकरणेंद्रिय को आह्लादित (आनन्दित) करता हुआ आठ कर्मों से रहित स्वस्वरूप में परिणमा है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, जिसका स्वस्वरूप ही क्रीड़ावन अर्थात् विश्रामस्थल है, जिसका तेजपुंज अनंत है, जो निरावरण प्रत्यक्ष है, जिस चैतन्य शक्ति का प्रताप त्रिकाल शाश्वत है, जो धीर (अडोल) है, सबसे बड़ा है तथा जो इन्द्रियजनित सुख-दुःख से रहित अतीन्द्रिय सुख में विराजमान है, वह किस प्रकार प्रकट हुआ यह कहते हैं। अनादिकाल से जीव से मिली आई जो बंधनविधि अर्थात् ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरण कर्म, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय, इत्यादि जो आठ कर्म से तथा राग-द्वेष-मोह परिणाम इत्यादि भावकर्म से बद्ध विकल्परूप स्थिति है उसके ध्वंस से अर्थात् नाश से जीव जैसा कहा, वैसा प्रकट होता है।

भावार्थ—जिस समय जल और मिट्टी एक साथ मिले हुए हैं उस समय भी यदि स्वरूप का अनुभव किया जाय तो मिट्टी जल से भिन्न है।

जल अपने स्वरूप है। उसी तरह समारावस्था में जीव पर्याय से कर्मों से एक क्षेत्र मिला हुआ है। उसी अवस्था में यदि शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया जाय तो समस्त कर्म जीव स्वरूप से भिन्न है। जीव द्रव्य का स्वच्छ स्वरूप जैसा कहा वैसा है। ऐसी विवेकबुद्धि उसी भेदज्ञान दृष्टि के द्वारा उपजती है जिसके द्वारा गणधर मुनीश्वर को यह प्रतीति उपजी कि चेतना द्रव्य का अजीव से— जड़कर्म-नोकर्म-भावकर्म से भिन्न भिन्नपना है। विस्तीर्ण अर्थात् विशाल ज्ञानदृष्टि से जीव और कर्म का भिन्न-भिन्न अनुभव करना जीव जैसा कहा वैसा है ॥१॥

सवैया— परम प्रतीति उपजाय गणधर कीसी,
अन्तर अनादि की विभावना विदारी है।
भेद ज्ञान दृष्टि सों विवेक की, सकति साध,
चेतन अचेतन की दशा निरवारी है ॥

करम को नाश करि, अनुभौ अभ्यास धरि,
हिये में हरषि निज उद्धता संभारी है।
अंतराय नाश गयो शुद्ध परकास भयो,
ज्ञान को विलास ताको वंदना हमारी है ॥१॥

मालिनी

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥२॥

कोई मिथ्यादृष्टि जीव-शरीर को जीव कहता है, कोई आठ कर्मों को जीव कहता है तथा कोई रागादि सूक्ष्म अध्यवसाय को जीव कहता है—इस प्रकार जो नाना झूठे विकल्प हो रहे हैं उनमें हे जीव ! विरक्त होकर, एकाग्ररूप होता हुआ, जैसे भी बने विपरीतपने को छोड़ कर, शुद्ध चिद्रूप मात्र का स्वसंवेदन प्रत्यक्षपने से अनुभव कर। बारम्बार बहुत क्या कहूं, अनुभव करने से ही स्वरूप की प्राप्ति है। हे जीव ! हृदयरूपी सरोवर में जीवद्रव्य रूपी कमल की अप्राप्ति नहीं है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने से स्वरूप

की प्राप्ति न हो, ऐसा नहीं है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से भिन्न चेतनरूप तेजपुंज की अवश्य प्राप्ति होगी ॥२॥

सवैया—भैया जगवासी तू उदासी ह्वै के जगत सौं,
एक छः महीना उपदेश मेरा मान रे।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिके एकांत मन एक ठौर आन रे॥
तेरो घट सर तामें तूही है कमल ताको,
तूही मधुकर ह्वै, सुवास पहिचान रे।
प्रापति न ह्वै है कछू ऐसो तू विचारत है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौंही जान रे॥२॥

अनुष्टुप

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३॥

दर्शन-ज्ञान-चरित्र-सुख-वीर्य इत्यादि चेतनामात्र के अनन्त गुणों से व्याप्त जीव, बस इतना ही है। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप अशुद्ध रागादि विभाव परिणाम सब पुद्गल द्रव्य से उपजे हैं और शुद्ध चेतनामात्र जीव-वस्तु से अति ही भिन्न हैं। इसी ज्ञान का नाम अनुभव कहा है ॥३॥

दोहा— चेतनवंत अनंत गुण, सहित सु आतमराम।
यातैं अनमिल और सब, पुद्गल के परिणाम ॥३॥

मालिनी

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥४॥

जीवद्रव्य अपने में, आपको, निरन्तर अनुभव करो। ज्ञानगुण से शून्य जो समस्त द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म इत्यादि हैं उनको मूल से छोड़कर जीव-द्रव्य अर्थात् आत्मा समस्त त्रैलोक्य में सर्वोत्कृष्ट है, उपादेय है, सुख स्वरूप है, शुद्ध स्वरूप है और शाश्वत है। साक्षात् ऐसा ही है, कुछ बड़ाई करके ऐसा नहीं कहा है। जैसा अनुभव में आया वैसा ही कहा है।

भावार्थ—जितनी कुछ भी कर्म जाति है वह समस्त हेय है। उनमें कोई भी कर्म उपादेय नहीं है। जैसे अनुभव में आया, वैसा ही कहते हैं। ज्ञानगुण ही जिसका स्वरूप है, उस स्व का प्रत्यक्ष रूप से आस्वाद करके। भावार्थ—जितने भी विभाव परिणाम हैं वह कोई भी जीव के (अपने) नहीं। जीव शुद्ध चैतन्य मात्र है—ऐसा अनुभव करना कर्तव्य है ॥४॥

कवित्त—अब चेतन संभारि निज पौरुष,

निरखै निज दृग सौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनाशिक,
जानै जगत शिरोमणि धर्म॥
अनुभव करै शुद्ध चेतन को,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकति को मारग,
अरु समीप आवै शिव सर्म॥४॥

वसंततिलका

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५॥

जितना भी अशुद्ध विभाव परिणाम है, वह सब, निश्चय से, विद्यमान शुद्ध चैतन्य द्रव्य से अर्थात् जीव के स्वरूप से निराला है, भिन्न है। कर्म नो अचेतन शुद्ध पुद्गलपिण्ड रूप है इसलिए वह तो जीव स्वरूप से निराला ही है। रागमोहादिक विभाव यद्यपि अशुद्धरूप हैं तथापि देखने में चेतना से दीखते है। ऐसे जो रागद्वेष मोहरूप जीव सम्बन्धी परिणाम हैं वे भी जीव स्वरूप के अनुभव में जीव स्वरूप से भिन्न हैं।

प्रश्न—विभाव परिणाम को जो जीव से भिन्न कहा सो भिन्न का भावार्थ हमारी समझ में नहीं आया। भिन्न कहने से वस्तुरूप भिन्न है? अथवा अवस्तु रूप भिन्न है?

उत्तर—अवस्तुरूप है। इस कारण जो जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभवन करने वाला है उसको विभाव परिणाम नहीं होता है। उसको तो उत्कृष्ट शुद्ध चैतन्य द्रव्य ही दृष्टि गोचर होता है।

भावार्थ—जो वर्णादिक व रागादिक दिखते तो हैं परन्तु जब स्वरूप का अनुभव हो तो मात्र विभाव परिणति है, वस्तु तो कुछ नहीं है ॥५॥

दोहा—वरणादिक रागादि जड़, रूप हमारो नाँहि ।
एकब्रह्म नाँहि दूसरो, दीसे अनुभव माँहि ॥५॥

उपजाति

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिं ॥६॥

वस्तु के स्वरूप का विचार करें तो जो निश्चयरूप वस्तु का परिणाम जिस वस्तु से जैसा पर्य्यायरूप उपजता है, वैसा उपजा है तथापि उपजते हुए भी जिस द्रव्य से उपजा है द्रव्य तो वही है। निश्चय ही अन्य कुछ द्रव्यरूप नहीं हुआ। जैसे—प्रत्यक्ष है कि चांदी धातु से घड़ कर तलवार की म्यान बना कर तय्यार की गई। यद्यपि वह म्यानरूप हो गई फिर भी वस्तु विचार से तो वह चांदी ही है। ऐसा सब लोग देखते हैं, मानते हैं और कहने के लिए उसको चांदी की तलवार भी कहते हैं। तथापि ऐसा नहीं है—तलवार चांदी की नहीं हुई। ऐसी कहावत है कि जो तलवार चांदी की म्यान में रक्खी जाती है उसको कहने मात्र के लिए चांदी की तलवार कह दिया जाता है परन्तु चांदी की तो म्यान है, तलवार तो लोहे की है। चांदी की तलवार नहीं। चांदी की म्यान का संयोग होने से उसको चांदी की तलवार कहा जाता है ॥६॥

दोहा—खांडो कहिये कनक को, कनक म्यान संयोग ।
न्यारो निरखत म्यान सों, लोह कहें सब लोग ॥६॥

उपजाति

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥७॥

हे जीव ! यह निश्चय से जान ले कि गुणस्थान, मार्गणास्थान, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इत्यादि जो भी अशुद्ध पर्य्याय विद्यमान हैं वे समस्त ही एकमात्र पुद्गल द्रव्य की ही चित्रकारी जैसी है। इस कारण से शरीरादि

सामग्री, जिस पुद्गल द्रव्य में हुई है वह वही पुद्गल द्रव्य है। निश्चय से ऐसा ही है। आत्मा अजीव द्रव्यरूप नहीं हुआ। जीव द्रव्य तो ज्ञानगुण का समूह है। जीव द्रव्य भिन्न है, शरीरादि परद्रव्य भिन्न है।

भावार्थ लक्षण भेद से वस्तु का भेद होता है। इसलिए चैतन्य लक्षणयुक्त जीववस्तु भिन्न है, अचेतन लक्षणयुक्त शरीरादि भिन्न है।

प्रश्न कहने को तो ऐसा ही कहा जाता है एकेंद्रिय जीव, द्वींद्रिय जीव, इत्यादि। देव जीव, मनुष्य जीव इत्यादि। रागी जीव, द्वेषी जीव इत्यादि।

उत्तर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। निश्चय से ऐसा कहना झूठा है। ऐसा कहते है ॥७॥

दोहा वर्णादिक पुद्गल दशा, धरे जीव बहुरूप।
वस्तु विचारत करम सों, भिन्न एक चिद्रूप ॥७॥

अनुष्टुप

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥८॥

जैसे—घड़ा घी का नहीं मिट्टी का है। परन्तु जिस घड़े में घी डाला है उसको यद्यपि 'घी का घड़ा' ऐसा कहते हैं तथापि घड़ा मिट्टी का है, घी भिन्न है। इसी प्रकार जीव को शरीरमय, सुख-दुखमय, राग-द्वेषमय उनके संयोग के कारण कहते है, तथापि जीव अर्थात् चेतनद्रव्य तो शरीर नहीं, जीव तो मनुष्य नही, चेतनस्वरूप जीव भिन्न है।

भावार्थ—आगम में जहां गुणस्थान का स्वरूप कहा है वहा ऐसा कहा है— देव जीव, मनुष्य जीव, रागीजीव, द्वेषीजीव इत्यादि। बहुत प्रकार से कहा है। सो सभी कथन व्यवहार मात्र से है। द्रव्य स्वरूप को देखे तो ऐसा कहना झूठा है। यहा प्रश्न उठता है कि फिर जीव कैसा है? जैसा है, वैसा कहते हैं ॥८॥

दोहा ज्यों घट कहिए घीव को, घट को रूप न घीव।
त्यों वरणादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ॥८॥

अनुष्टुप

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।[1]
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥६॥

द्रव्य के स्वरूप को विचारें तो आत्मा चैतन्य स्वरूप है, स्वयं अपनी सामर्थ्य से अति ही प्रकाशमान है। और कैसा है चैतन्य ? जिसका न आदि है और न अन्त अर्थात् विनाश है, जो अचल है, अपने में ही अपने को जानता है और अमिट है—ऐसा जीव का स्वरूप है ॥६॥

दोहा—निराबाध चेतन अलख, जाने सहज सुकीव ।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगत में जीव ॥६॥

शार्दूलविक्रीडित

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥१०॥

जिस पुरुष को भेदज्ञान है वह, जैसा कहा गया है वैसा विचार कर उस चेतन मात्र का अनुभव करे जिसका अनुभव करना योग्य है, जो जीव द्रव्य से कभी भिन्न नहीं होता, जो जीव से अन्य पांच द्रव्य हैं उनसे भिन्न है, प्रगट है, जिसका स्वरूप प्रगट है, और जो अचल है अर्थात् जिसके प्रदेशकंप से रहित है। सर्व जीव राशि—जीव को अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों से रहित मानकर अनुभव नहीं करता है।

भावार्थ—जो कोई जाने कि जीव अमूर्तीक है ऐसा जानकर अनुभव करते हैं, सो इस तरह तो अनुभव नहीं है। जीव अमूर्त तो है परन्तु अनुभव के समय तो ऐसा अनुभव है कि जीव चैतन्य लक्षण है। क्योंकि अजीव अर्थात् अचेतन द्रव्य भी दो प्रकार का है—वर्ण-रस-गंध-स्पर्श से संयुक्त तो एक पुद्गल द्रव्य ही है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य ये चार द्रव्य वर्ण-रस-गंध-स्पर्श से रहित अमूर्तिक द्रव्य कहे हैं। इस तरह अमूर्तपना

---

१. कहीं पर "स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्" ऐसा पाठ भी है।

अचेतन द्रव्य के भी है। इसलिए अमूर्तपना जान कर जीव का अनुभव न करो—चेतन जान कर अनुभव करो ॥१०॥

सवैया—रूप-रसवंत मूरतीक एक पुद्गल,
रूप बिन और यों अजीव द्रव्य द्विधा है।
च्यारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याही तें अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है॥
और सों न कबहूं प्रगट आप आपही सों,
ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है।
चेतन को अनुभौ आराधं जग तेई जीव,
जिन्ह के अखंड रस चाखवे की छुधा है ॥१०॥

वसंततिलका

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥११॥

जीव का लक्षण चैतन्य है और अजीव का लक्षण अचेतन है अर्थात् जड़ है। इस प्रकार जीव द्रव्य से पुद्गल आदि सहज ही भिन्न है। ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव स्वानुभव से प्रत्यक्षरूप अनुभव करता है। जीव तो स्वयं अपने गुण-पर्य्याय से प्रकाशमान है। परन्तु अनादिकाल से पड़े संतानरूप पसरे हुए मोह के वश में पड़ा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि (व्यक्ति) जीव और कर्म को एकत्वरूप मान कर विपरीत संस्कार में पड़ा हुआ है—यह कैसा आश्चर्य है ॥११॥

सवैया—चेतन जीव अजीव अचेतन, लक्षण भेद उभै पद न्यारे।
सम्यक् दृष्टि उदोत विचक्षण, भिन्न लखे लखि के निरवारे।
जे जगमांहि अनादि अखंडित, मोह महामद के मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं, तिन की फिर टेक टरे नहिं टारे ॥११॥

वसंततिलका

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये

वर्णादिभास्वर्तति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥१२॥

जीव और अजीव में एकत्वबुद्धि का अविवेक अर्थात् मिथ्यात्व अनादि काल से है। संसार में पुद्गल अर्थात् अचेतन मूर्तिमंत द्रव्य निश्चय ही नाटक की भांति धारासंतानरूप में, बारम्बार, विभावरूप (नानारूप) परिणमन कर अनादिकाल से नाच रहा है।

भावार्थ—चेतन द्रव्य तथा अचेतन द्रव्य अनादि से अपना-अपना स्वरूप लिए हुए हैं। परस्पर भिन्न है। ऐसा प्रगट अनुभव करना आसान है। इनका एकत्र संस्काररूप अनुभव हो अचम्भे की बात है। ऐसा अनुभव क्यों होता है? जबकि एक चेतन द्रव्य है और एक अचेतन द्रव्य है और उनमें घना (बहुत) अन्तर है। यह कोई अचम्भा नहीं है बल्कि अशुद्धपना लिए हुए बुद्धि का भ्रम है। जैसे धतूरा पीने से दृष्टि विचलित हो जाती है। श्वेत शंख पीला दिखता है। वस्तु विचार से ऐसी दृष्टि सहज नहीं है, दृष्टिदोष है। दृष्टिदोष धतूरे की उपाधि से हुआ है। जीवद्रव्य कर्मसंयोगरूप अनादि से ही मिला चला आ रहा है। इस मिलावट ने ही उसका विभावरूप अशुद्धरूप परिणमन कराया है। इस अशुद्धपने से उसके ज्ञान व दृष्टि भी अशुद्ध हैं जिनके कारण वह चेतन द्रव्य को एकत्व संस्काररूप अनुभव करता है। ऐसा संस्कार है, परन्तु वस्तु स्वरूप के विचार से ऐसी अशुद्ध दृष्टि सहज (स्वाभाविक) नहीं, अशुद्ध है—दृष्टिदोष है। यह दृष्टिदोष पुद्गलपिंडरूप जो मिथ्यात्व कर्म है उसके उदय की उपाधि (संयोग) से हुआ है। जैसे—दृष्टिदोष के कारण श्वेत शंख को पीला अनुभव करता है तो वह दृष्टि में दोष है, शंख तो श्वेत ही है। पीला दिखने से शंख तो पीला हुआ नहीं। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि चेतनवस्तु और अचेतनवस्तु को एकरूप अनुभव करता है। यह भी दृष्टि का ही दोष है। एकरूप अनुभव करने से एक होता नहीं क्योंकि (दोनों में) घना (बहुत) अन्तर है।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण गुणों से युक्त पुद्गल से संयोग तथा रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि असंख्यात लोक मात्र जीव के अशुद्ध परिणाम—पुद्गल के साथ अनादि काल के विकारी बंध पर्याय के कारण जीव के विभाव

परिणाम है। परन्तु शुद्ध-चेतनाधातुमय-चिद्रूप-जीव इनसे रहित शुद्ध-निर्विकार है।

भावार्थ—जैसे पानी यदि मिट्टी से मिलकर मैला हो रहा है तो वह मैला रंग मिट्टी का है पानी का नहीं। यदि रंग को अंगीकार न करें तो बाकी जो बचेगा वह पानी ही है। इसी प्रकार जीव की कर्मबंध पर्याय अवस्था रागादिक का रंग है। उस रंग को अंगीकार न करें तो बाकी जो कुछ है चेतनधातुमात्र वस्तु है। इसी का शुद्ध स्वरूप का अनुभव सम्यक्-दृष्टि को होता है ॥१२॥

सवैया या घट में भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अखारो।
बामांहि और स्वरूप न दीसत, पुद्गल नृत्य करै अति भारो।
फेरत भेष दिखावत कौतुक, सौंज लिए वरणादि पसारो।
मोह सं भिन्न जुदो जड़सों, चिन्-मूरति नाटक देखन हारो ॥१२॥

पृथ्वी

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा।
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः॥
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या।
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥१३॥

चेतनवस्तु वर्तमानकाल अपने में अत्यन्त अपने स्वाद को लिए सर्व प्रकार प्रगट है। कैसे? क्योंकि वह समस्त ज्ञेय पदार्थों को प्रतिबिंबित करता है। चेतन त्रैलोक्य को कैसे जानता है? वह अपनी निज शक्ति से प्रकाशमान है और ज्ञानगुण स्वभाव से त्रिलोक को जानता है। पूर्वोक्त विधि से, बारंबार अभ्यास करके, भेद-बुद्धि के द्वारा जीव और अजीव को भिन्नरूप से अलग-अलग छेद कर देखता है।

प्रश्न—जीव और अजीव के ज्ञान के द्वारा तो दो भाग किए परन्तु पहले किस रूप था?

उत्तर—अनन्तकाल से मिला हुआ जीव और कर्म का एक पिण्डरूप पर्याय प्रकटरूप से कभी भिन्न-भिन्न नहीं हुआ है।

भावार्थ—जैसे सोना और पाषाण मिला चला आया है और है भिन्न-भिन्न रूप, परन्तु अग्नि के संयोग के बिना प्रगटरूप से भिन्न होता नहीं। जब अग्नि का संयोग पायेगा तभी तत्काल भिन्न-भिन्न हो जायेगा।

उसी तरह यद्यपि जीव और कर्म का संयोग अनादिकाल से चला आया है परन्तु जीव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी शुद्धस्वरूप के अनुभव के बिना प्रगटरूप में भिन्न-भिन्न नहीं होते। जिस समय शुद्धस्वरूप का अनुभव होगा उसी समय भिन्न-भिन्न होंगे।

सवैया **जैसे करवत एक काठ बीच खंड करै,**
जैसे राजहंस निरवारै दूध जल कों।
तैसे भेद ग्यान निज भेदक सकति सेती,
भिन्न-भिन्न करे चिदानन्द पुद्गल कों॥
अवधिकों धावे मनपर्यै की अवस्था पावै,
उमगि कै आवे परमावधि के थल कों।
याही भांति पूरण सरूप को उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकल कों॥१३॥

॥ इति द्वितीयो अध्याय ॥

तृतीय अध्याय

कर्त्ता-कर्म अधिकार

पृथ्वी

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी,
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं,
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥१॥

मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसी प्रतीति होती है कि जीव-वस्तु पुद्गल कर्म का कर्त्ता है या मैं अकेला जीवद्रव्य चेतन स्वरूप पुद्गल कर्म करता हूं और जो ज्ञानावरणादिक पिंड विद्यमान हैं वे मेरे ही करतूत हैं। ऐसा जो मिथ्यादृष्टि का विपरीतपना है उसको सम्पूर्णतः दूर करके शुद्ध ज्ञान प्रकाशमान होता है। वह सर्वोत्कृष्ट है, त्रिकाल शाश्वत है, सकल ज्ञेय वस्तु को साक्षात्, एक समय में प्रत्यक्ष रूप से जानता है, उपाधि से रहित है तथा भिन्न-भिन्न रूप से सकल द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने वाला है। इसी को लेकर अब कर्त्ता-कर्म अधिकार आरम्भ करते हैं ॥१॥

दोहा— यह अजीव अधिकार को, प्रगट बखान्यो मर्म ।
अब सुनु जीव-अजीव के, कर्त्ता किरिया कर्म ॥

सवैया—प्रथम अज्ञानी जीव कहे मैं सदीव एक,
दूसरो न और मैं ही करता करम को ।
अन्तर विवेक आयो आपा-पर-भेद पायो,
भयो बोध गयो मिटि भारत भरम को ।
भासे छहों दरब के गुण परजाय सब,
नासे दुःख लख्यो मुख पूरण परम को ।

करम को करतार मान्यो पुद्गल पिंड,
आप करतार भयो आतम धरम को ॥१॥

मालिनी

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह्भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥२॥

जीव और कर्म में जो एकत्व बुद्धि थी उसको छोड़कर चिद्रूप शक्ति जो स्वयं में पूर्ण है प्रगट हुई। ऐसा अतिशयरूप जीव अपने ज्ञानगुण का ही अनुभव करता है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अथवा द्रव्य-गुण पर्याय आदि अनेक विकल्पों को जड़ से उखाड़ फेंकता है। हे शिष्य! शुद्ध ज्ञान प्रगट होने पर, जीव कर्त्ता है और ज्ञानावरणादि पुद्गलपिंड उसके कर्म हैं, ऐसा जो व्यवहार बुद्धि का विपरीतपना है, उसका क्या अवसर है?—कोई नहीं।

भावार्थ— जैसे, सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार को अवसर नहीं, वैसे ही स्वरूप का अनुभव होने पर विपरीत रूप मिथ्यात बुद्धि का प्रवेश नहीं है।

प्रश्न—शुद्ध ज्ञान का अनुभव होने पर विपरीत बुद्धि मात्र मिटती है या कर्म बन्ध मिटता है?

उत्तर—विपरीत बुद्धि मिटती है। कर्म बन्ध भी मिटता है।

विपरीत बुद्धि के मिटने पर, जो पुद्गल सम्बन्धी द्रव्यपिंडरूप कर्मबंध हैं, ज्ञानावरणादि कर्मों का आगमन है, वह फिर क्यों होगा?—नहीं होगा ॥२॥

सवैया— जाही समै जीव देह बुद्धि को विकार तजे,
वेदत स्वरूप निज भेदत भरम को।
महा परचण्ड मतिमण्डन अखण्ड रस,
अनुभौ अभ्यास परकासत परम को।
ताही समै घट में न रहे विपरीत भाव,
जैसे तम नासे भानु प्रगटि धरम को।
ऐसी दशा आवे जब साधक कहावे तब,
करता ह्वै कैसे करै पुद्गल करम को ॥२॥

शार्दूलविक्रीडित

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥३॥

जीव द्रव्य अपने में अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ होने पर, सकल द्रव्य स्वरूप का जानने वाला शोभायमान होता है।

भावार्थ— जब जीव को शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है तब सकल परद्रव्यरूप द्रव्यकर्म भावकर्म, नोकर्म के प्रति उदासीनता होती है। जीव-द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अनादि निधन है और कर्म के संस्काररूप झूठे अनुभव से उपजे दुःख से तथा इस विपरीत प्रतीति से कि जीव कर्ता है तथा ज्ञाना-वरणादि द्रव्यपिंड जीव की करतूत है, सर्वथा रहित है। पूर्व कहे अनुसार ऐसा जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप परवस्तु है उनके प्रति मूल से त्यागबुद्धि करके अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूप का स्वाद लेता है। उस शुद्ध-स्वरूप का जिसका स्वभाव शुद्ध-ज्ञान-समूह है और वह अपने सदा शुद्ध स्वरूप का सप्त-भय से रहित स्वाद लेता है ॥३॥

सवैया—जग में अनादि को अज्ञानी कहै मेरो कर्म,
करता मैं याको किरिया को प्रतिपाखी है।
अन्तर सुमति भासी जोगसूं भयो उदासी,
ममता मिटाय परजाय बुद्धि नाखी है॥

निरभय स्वभाव लीनो अनुभव को रस भीनो,
कीनो व्यवहार दृष्टि निहचे में राखी है।
भरम की डोरी तोरी धरम को भयो धोरी,
परम सों प्रीति जोरी करम को साखी है ॥३॥

शार्दूलविक्रीडित

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।

इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४॥

सूर्य की भांति तेजवान भेदज्ञान के द्वारा, जीव मिथ्यात्वरूप अंधकार का छेदन करता है और अनादि के मिथ्यात्वरूप कर्म के एक पर्यायरूप परिणाम से छूट कर शुद्ध चेतन का अनुभव करता है। ऐसा जीव जो अनादिकाल से मिथ्यात्वरूप परिणमन कर रहा था वह कर्म के कर्तृत्व से रहित होता है।

एक ही द्रव्यरूप वस्तु या सत्तारूप वस्तु में जितने भी गुणरूप या पर्याय रूप भेद है उनके विकल्प से भेद ज्ञान होता है।

भावार्थ— जैसे, सोना पीला, भारी, चिकना कहने के लिए है परन्तु (उसकी) एक सत्ता है। ऐसे ही जीव द्रव्य ज्ञाता-दृष्टा कहने के लिए है परन्तु है एक सत्तारूप। इस प्रकार एक सत्तारूप द्रव्य में भेद बुद्धि करने से व्याप्य-व्यापकता घटित होती है। परिणामी द्रव्य अपने परिणाम का करने वाला है। द्रव्य ने (अमुक) परिणाम किया ऐसा भेद करने से ही व्याप्य-व्यापकपना बनता है, अन्यथा नहीं। जीव की सत्ता से पुद्‌गल द्रव्य की सत्ता भिन्न है। इनमें निश्चय ही व्याप्य-व्यापकपना नहीं हो सकता।

भावार्थ—उपचार से द्रव्य अपने परिणाम का कर्त्ता है और वह परिणाम तो द्रव्य का किया हुआ है। परन्तु अन्य द्रव्य का कर्त्ता कोई अन्य द्रव्य तो उपचार से भी नहीं है। इसलिए कि उनकी एक सत्ता नहीं, भिन्न सत्ता है। परिणाम-परिणामी भेद की उत्पत्ति के बिना ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्म का कर्त्ता जीव द्रव्य है, ऐसा अनुभव नहीं घटता। इस तरह जीव-द्रव्य और पुद्‌गल की एक सत्ता नहीं है। उनकी भिन्न सत्ता है। इस तरह ज्ञान-सूर्य के द्वारा जिस जीव का मिथ्यात्वरूपी अंधकार मिटता है वह सम्यग्दृष्टि होता है ॥४॥

सवैया—जैसो जो दरब ताके तैसे गुण परजाय,
ताहीसों मिलत पै मिलै न काहू आन सों।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जाति भेद,
अमिल मिलाप ज्यों नितम्ब जुरे कान सों॥
ऐसो सुविवेक जाके हिरदै प्रकट भयो,
ताको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भागे भानसों।

मोह जीव करमको करतासो दीसे पै,
अकरता कह्यो शुद्धता के परमानसों ॥४॥

स्रग्धरा

ज्ञानी जानन्नपीमां स्व-परपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहो नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न याव-
द्विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५॥

जितने काल भेद-ज्ञानरूप अनुभव प्रगट नहीं होता उतने काल जीव और पुद्गल के संबंध में ऐसा भ्रम रहता है कि ज्ञानावरणादि का कर्ता जीव द्रव्य ही है। अज्ञानपने से ऐसी मिथ्या-प्रतीति होती है, वस्तु का स्वरूप तो ऐसा नहीं है।

प्रश्न—ज्ञानावरणादि का कर्ता जीव है ऐसा अज्ञानपना क्यों है?

उत्तर—जीव वस्तु तथा ज्ञानावरणादि कर्मपिंड परिणामी-परिणाम भाव, एक संक्रमण होने में असमर्थ है। द्रव्य-स्वभाव से (दोनों में) अति ही भेद है; क्योंकि जीव द्रव्य के भिन्न प्रदेश चैतन्य स्वभाव, पुद्गल द्रव्य के भिन्न प्रदेश अचेतन स्वभाव ऐसा बहुत भेद है। प्रसिद्ध है कि ज्ञानी अपनी तथा जितनी भी ज्ञेय वस्तु है उनकी परिणति अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को जानता है। प्रगट है कि पुद्गल अपने या जितने भी परद्रव्य हैं उनके द्रव्य-गुण-पर्याय आदि को नहीं जानता है। ऐसा है पुद्गल द्रव्य।

भावार्थ—जीव द्रव्य ज्ञाता है और पुद्गल कर्म ज्ञेय है। ऐसा जीव का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। परन्तु व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं। द्रव्य का अति भिन्नपना है, एकपना नहीं है। भेदज्ञानरूप अनुभव ने, आरे की तरह शीघ्र ही जीव व पुद्गल के भेद को उत्पन्न किया है ॥५॥

छप्पय जीव ज्ञान-गुण सहित, आपगुण परगुण ज्ञायक।
आपा परगुण लखै, नाहि पुद्गल इहि लायक॥
जीवरूप चिद्रूप सहज, पुद्गल अचेत जड़।
जीव अमूरति, मूरतीक पुद्गल, अन्तर बड़॥
जब लग न होइ अनुभौ प्रकट, तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करम को, सुबुद्धि विकाश यह भ्रम नसै॥५॥

आर्या

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥६॥

जो कोई सत्ता मात्र वस्तु जिस अवस्था रूप है उस रूप अपने से ही है। उस अवस्था का कर्त्ता सत्ता मात्र वस्तु ही है। जिस द्रव्य का जो कुछ स्वभाव परिणाम है उसी को उस द्रव्य का परिणाम कर्म कहते हैं। जो द्रव्य पूर्व अवस्था से उत्तर अवस्थारूप हुआ वही क्रिया है। जैसे, मिट्टी घटरूप होती है, उसमें मिट्टी को कर्त्ता कहा; उससे घड़ा बना, तो वह कर्म हुआ; मिट्टी के पिंड से घटरूप होना क्रिया कही। सत्तारूप वस्तु को कर्त्ता कहा, उसमें जो अवस्था उपजी उसे परिणाम कर्म कहा तथा वह जो उपजने रूप क्रिया हुई उसको उसकी क्रिया कहा। सत्ता मात्र वस्तु का अनुभव करो तो कर्त्ता-कर्म-क्रिया रूप तीन भेद निश्चय ही तीन सत्ता तो नहीं, एक ही सत्ता है।

भावार्थ—कर्त्ता-कर्म-क्रिया का स्वरूप तो इसी प्रकार है। इसमें ज्ञानावरणादि द्रव्यपिंडरूप कर्म का कर्त्ता जीव द्रव्य है ऐसा जानना झूठा है। उनके साथ जीव द्रव्य की एक सत्ता नहीं है फिर कर्त्ता-कर्म-क्रिया संबंध (उनमें) परस्पर घट ही कैसे सकते हैं? अर्थात् नहीं घट सकते ॥६॥

दोहा—कर्त्ता परिणामी द्रव्य, कर्म रूप परिणाम ।
क्रिया पर्याय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम ॥६॥

आर्या

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥७॥

त्रिकाल में सत्तामात्रवस्तु अपनी ही अवस्थान्तररूप होती है और त्रिकालगोचर होने वाली अवस्थाओं के साथ एक सत्ता मात्र है।

भावार्थ—सत्तामात्र वस्तु, अवस्थारूप है तथा अवस्था अपनी वस्तुरूप है। और फिर क्रिया सत्ता मात्र वस्तु की है।

भावार्थ—क्रिया वस्तुमात्र ही है, वस्तु से भिन्न (उसकी) सत्ता नहीं है। इस प्रकार यद्यपि एक सत्ता के भेद से कर्त्ता-कर्म-क्रिया ऐसे तीन भेद हैं तथापि सत्ता तो वस्तुमात्र ही है। तीनों ही विकल्प झूठे हैं। भावार्थ—

ज्ञानावरणादि द्रव्यरूप पुद्गलपिंडकर्म की कर्ता जीव वस्तु है, ऐसा जानना मिथ्याज्ञान है। एक सत्ता में कर्ता-कर्म-क्रिया (का कथन) उपचार से किया है। जो जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य भिन्न सत्तारूप हैं उनमें कर्ता-कर्म-क्रिया (संबंध) कैसे घटेगा? ॥७॥

दोहा—कर्ता कर्म क्रिया करे, क्रिया कर्म करतार।
नाम भेद बहुविधि भयो, वस्तु एक निर्धार ॥७॥

आर्या

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद् यदनेकमनेकमेव सदा ॥८॥

ऐसा निश्चय है कि चेतनालक्षण जीवद्रव्य तथा अचेतन कर्मपिंडरूप पुद्गल द्रव्य, एक परिणामरूप परिणमन नहीं करते हैं।

भावार्थ—जीवद्रव्य अपनी ही शुद्ध चेतनारूप अथवा अशुद्ध चेतनारूप व्याप्य-व्यापकरूप से परिणमन करता है। पुद्गलद्रव्य अपने अचेतन लक्षणरूप, शुद्ध परमाणुरूप अथवा ज्ञानावरणादि कर्मपिंड रूप अपने में ही व्याप्य-व्यापकरूप से परिणमन करता है। परन्तु जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों मिलकर अशुद्ध चेतनारूप हैं और रागद्वेषरूप परिणाम में परिणमन करते हैं, ऐसा तो नहीं है। जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों मिलकर एक पर्याय रूप नहीं होते। जीव और पुद्गल की मिलकर एक क्रिया नहीं होती। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। जीव और पुद्गल भिन्न सत्तारूप हैं तथा जीव और पुद्गल सदा ही भिन्न रूप हैं—एक रूप कैसे होंगे? भावार्थ—जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्तारूप है सो यदि पहले भिन्न सत्तापना छोड़ कर एक सत्तारूप हो तो पीछे (उनमें) कर्ता-कर्म-क्रियापना घटित हो। सो वे एक रूप तो होंगे नहीं, इसलिए जीव और पुद्गल का आपस में कर्ता-कर्म-क्रियापना भी घटित नहीं होगा ॥८॥

दोहा—एक कर्म कर्तव्यता, करे न कर्ता दोय।
दुवा द्रव्य सत्ता सु दो, एक भाव क्यों होय ॥८॥

आर्या

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥९॥

यहाँ यदि कोई भिन्न मत का निरूपण करने के लिए कहे कि जब द्रव्य की अनन्त शक्ति है तो एक शक्ति ऐसी भी होगी कि एक द्रव्य दो द्रव्यों के परिणाम को करे। जैसे जीव द्रव्य अपने अशुद्ध चेतनरूप राग-द्वेष-मोह परिणाम को व्याप्य-व्यापकरूप से करता है, वैसे ही ज्ञानवरणादि कर्मपिंड को भी व्याप्य-व्यापक रूप से करे। इसका उत्तर है कि—द्रव्य की अनन्त शक्ति तो है परन्तु ऐसी शक्ति कोई नहीं है कि जिस भांति वह अपने गुणों के साथ व्याप्य-व्यापक है उसी भांति परद्रव्य के गुणों में भी व्याप्य-व्यापकरूप हो जाए।

एक परिणाम के दो द्रव्य कर्त्ता नहीं हैं। भावार्थ ऐसा नहीं है कि अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष-मोह परिणाम का जिस प्रकार व्याप्य-व्यापकरूप से जीव कर्त्ता है पुद्गल द्रव्य भी उसी प्रकार अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष-मोह परिणाम का कर्त्ता है। जीव द्रव्य अपने राग-द्वेष-मोह-परिणाम का कर्त्ता है, पुद्गल द्रव्य उनका कर्त्ता नहीं है।

एक द्रव्य के दो परिणाम नहीं होते। भावार्थ —ऐसा नहीं है कि जीव द्रव्य जैसे राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध चेतन परिणामों का व्याप्य-व्यापक रूप से कर्त्ता है वैसे ही ज्ञानावरणादि अचेतन कर्म का कर्त्ता भी जीव है। वह तो अपने परिणाम का कर्त्ता है। अचेतन परिणामरूप कर्म का कर्त्ता जीव नहीं है।

फिर कहते हैं कि एक द्रव्य के दो क्रिया नहीं है। भावार्थ—ऐसा नहीं है कि जिस तरह जीव द्रव्य का चेतन परिणतिरूप परिणमन होता है उसी तरह उसका अचेतन परिणतिरूप परिणमन होता है। इसलिए कहते हैं कि एक द्रव्य दो द्रव्यरूप क्यों होगा, अर्थात् नहीं होगा। भावार्थ जीव द्रव्य एक चेतन द्रव्यरूप है। यदि वह अनेक द्रव्यरूप हो तब, ज्ञानावरणादि कर्म का कर्त्ता हो और अपने राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध चेतन परिणाम का भी कर्त्ता हो। पर, ऐसा तो नहीं है। अनादि निधन जीवद्रव्य एकरूप ही है इसलिए अपने अशुद्ध चेतन परिणाम का कर्त्ता है। अचेतन कर्म का कर्त्ता नहीं है। ऐसा वस्तु स्वरूप है ॥६॥

सवैया—एक परिनाम के न करता दरब दोय,
दोय परिनाम एक दरब न धरत है।
एक करतूति दोय दरब कबहूँ न करे,
दोय करतूति एक दरब न करत है॥

जीव पुद्गल एक खेत अवगाहि दोउ,
अपने अपने रूप कोऊ न टरत है।
जड़ परिणामनिको करता है पुद्गल,
चिदानंद चेतन स्वभाव आचरत है ॥९॥

शार्दूलविक्रीडित

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥

अहो जीव ! मिथ्यादृष्टि जीवों के, ज्ञानवरणादि कर्म का कर्त्ता जीव है ऐसा परद्रव्यस्वरूप और ही होत, मिथ्यात्वरूप अन्धकार अनादि से एक संतानरूप चला आ रहा है, जिसके वश वह, मैं देव, मैं मनुष्य, मैं तिर्यंच, मैं नारकी इत्यादि कर्म पर्यायों में आत्मबुद्धि करता है और अपने स्वरूप को वैसा ही मानता है। ऐसा जो अनादिकाल का मिथ्यात्व अन्धकार है वह अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से विनश जाता है।

भावार्थ—जीव के यद्यपि मिथ्यात्व अन्धकार अनन्तकाल का चला हो आ रहा है तथापि सम्यक्त्व होने पर वह मिथ्यात्व छूट जाता है। हे जीव, एक बार जो मिथ्यात्व छूट जाए तो फिर जीव की परद्रव्य में एकत्व बुद्धि कहां होगी ? अर्थात् नहीं होगी। वह तो ज्ञान का समूह है। भावार्थ—शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने पर संसार में रुलना नहीं होता ॥१०॥

सवैया—महाधीठ दुःख को बसीठ परद्रव्यरूप,
अन्धकूप काहूपै निवार्यो नहिं गयो है।
ऐसो मिथ्याभाव लग्यो जीव के अनादि ही को,
याहि अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयो है॥

काहू समै काहू को मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि शुद्धभाव परिणयो है।
तिनही विवेकधारि बंध को विलास डारि,
आतम सकति सौं जगत जीति लयो है ॥१०॥

अनुष्टुप्

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ।।११।।

जीव द्रव्य निज शुद्ध चेतनारूप अथवा अशुद्ध चेतनारूप जो राग-द्वेष-मोहभाव हैं, उन्हीं रूप परिणमन करता है। पुद्‌गल द्रव्य अपने त्रिकालगोचर ज्ञानावरणादि रूप पर्याय को करता है। निश्चय ही जीव का परिणाम व आत्मा एक जीव ही है।

भावार्थ--जिन चेतना परिणामों को जीव करता है वे चेतन परिणाम भी जीव ही है, इसमें कोई द्रव्यांतर नहीं हुआ। पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम पुद्‌गल द्रव्य है वे जीव द्रव्य नहीं हो जाते। भावार्थ--जिन ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता पुद्‌गल है वे कर्म भी पुद्‌गल ही हैं--कोई द्रव्यांतर नहीं हैं ।।११।।

सवैया शुद्धभाव चेतन अशुद्धभाव चेतन,
दुहूं को करतार जीव और नहिं मानिए।
कर्मपिंड को विलास वर्ण रस गन्ध फास,
करता दुहूंको पुद्‌गल परवानिए ।।
तातें वरणादि गुण ज्ञानावरणादि कर्म,
नाना परकार पुद्‌गलरूप जानिए।
समल विमल परिणाम जे जे चेतन के,
ते ते सब अलख पुरुष यों बखानिए ।।११।।

वसंततिलका

अज्ञानतस्तु स तृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ।।१२।।

जिस प्रकार हाथी अन्न और घास दोनों के मिले जुले आहार को बराबर मान कर खाता है और घास का और अनाज का विवेक नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कर्म के संयोग से हुई अपनी विचित्र दशाओं में ही रंजायमान होता रहता है। वह कर्म की सामग्री को अपनी मानता है

और जीव का और कर्म का विवेक नहीं करता। निश्चय दृष्टि से, स्वरूप-मात्र की अपेक्षा से तो जीव ज्ञान स्वरूप है। परन्तु इसकी वर्तमान दशा ऐसी हो रही है कि जैसी दशा उस व्यक्ति की होती है जो शिखरिणी (दही में मीठा मिला हुआ) के मीठे-खट्टे स्वाद में ऐसा लोलुप है और मानता है कि मैं गाय का दूध पी रहा हूँ।

भावार्थ—स्वाद का विषयी होकर शिखरिणी पीता है परन्तु स्वाद भेद नहीं करता। उसमें ऐसा निर्भेदपना मानता है जैसा कि गाय का दूध पीते समय निर्भेदपना मानना चाहिए ॥१२॥

सवैया जैसे गजराज नाज घास के गरास करि,
भक्षण स्वभाव नहि भिन्न रस लियो है।
जैसे मतवारो नहि जाने सिखरणि स्वाद,
युग मैं मगन कहे गऊ दूध पियो है॥
तैसे मिथ्यामति जीव ज्ञानरूपी है सदीव,
पग्यो पाप पुण्यसों सहज सुन्न हियो है।
चेतन अचेतन दुहूं को मिश्र पिंड लखि,
एकमेक माने न विवेक कछु कियो है ॥१२॥

शार्दूलविक्रीडित

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा।
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ॥
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिव-
च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयमसी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥१३॥

यद्यपि जीव सहज ही शुद्ध स्वरूप है परन्तु जैसे हवा के संयोग से समुद्र हिलता और उछलता है, वैसे सारे संसारी मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि की वरजोरी से अनेक रागादि के समूह के कर्ता बने हुए आकुलित हो रहे हैं।

भावार्थ—जैसे समुद्र का स्वभाव निश्चल है परन्तु वायु के वेग से प्रेरित होकर उछलता है और उछलने का कर्ता भी होता है। वैसे ही जीव द्रव्यस्वरूप से अकर्ता है परन्तु कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमन करता है तथा विभावपने का कर्ता भी होता है। लेकिन वह ऐसा, अज्ञान के वश से करता है, स्वभाव से नहीं। दृष्टान्त: जैसे—मृग मिथ्याबुद्धि के कारण

मरीचिका को पानी समझकर पीने के लिए भागता है अथवा मनुष्य अंधकार में भ्रांति के कारण रस्सी में सर्प की बुद्धि करके डरता है ॥१३॥

सवैया—जैसे महा धूप की तपनि में तिसायौ मृग,
भरम से मिथ्याजल पीवने को धायो है।
जैसे अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरम से डरपि सरप मानि आयो है॥
अपने स्वभाव जैसे सागर है थिर सदा,
पवन संयोग सों उछरि अकुलायो है।
तैसे जीव जड़ सों अव्यापक सहज रूप,
भरम सों करम को कर्ता कहायो है ॥१३॥

वसंततिलका

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४॥

कोई सम्यक्दृष्टि जीव सम्यक्ज्ञान के बल पर जीव के चैतन्यमात्र लक्षण में भेद करके द्रव्यकर्मपिंड से आत्मा को भिन्न जानना व अनुभव करना है। इसी को भेद ज्ञान कहा है। जैसे हंस पानी और दूध को भिन्न करता है।

भावार्थ—जैसे हंस दूध पानी भिन्न-भिन्न करता है। वैसे ही कोई जीव आत्मा को पुद्गल से भिन्न अनुभव करता है। ऐसा जीव ज्ञायक तो है परन्तु परमाणु मात्र भी करता तो नहीं है। ऐसा ज्ञानी जीव सदा निश्चल चैतन्य धातुमय आत्मा के स्वरूप में दृढ़ता करता है ॥१४॥

सवैया—जैसे राजहंस के वदन के सपरसत,
देखिए प्रगट न्यारो छीर न्यारो नीर है।
तैसे समकिती के सुदृष्टि सहजरूप,
न्यारो जीव न्यारो कर्म न्यारो ही शरीर है॥
जब शुद्ध चेतन के अनुभौ अभ्यासे तब,
भासे आप अचल न दूजो और सीर है।
पूरब करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होइ तिन्ह को तमासगीर है ॥१४॥

मंदाक्रांता

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५॥

शुद्ध स्वरूप मात्र वस्तु का अनुभव होने से समस्त अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणाम से भिन्न, अविनश्वर शुद्ध जीव स्वरूप प्रकाशमान होता है जिससे यह भ्रांति समूल दूर होती है कि कर्म का कर्ता जीव है।

भावार्थ—सभी संसारी जीव रागादि अशुद्ध चेतनारूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु यह पर्याय है। वह ज्ञान जिसने क्रोधरूप परिणमन किया है भिन्न है और क्रोध भिन्न है ऐसा अनुभव तो बहुत ही कठिन है? इसका उत्तर है कि सचमुच ही कठिन तो है परन्तु वस्तु के शुद्ध स्वरूप का विचार करने से भिन्न स्वाद तो आता ही है। दृष्टान्त—जैसे निज स्वरूपग्राही ज्ञान में स्पष्ट प्रगट होता है कि उष्णता आग की है और शीतलता पानी की है, परन्तु आग के संयोग से पानी को ही गर्म कहा जाता है। भावार्थ—पहले आग से पानी को गर्म किया जाता है और फिर उसे गर्म पानी कहते हैं परन्तु दोनों वस्तुओं के स्वभाव का विचार करें तो उष्णपना आग का है, पानी तो स्वभाव से शीतल है।

नमक से खारा किया हुआ व्यंजन था परन्तु उसको जो खारा व्यंजन कहता व जानता था, वह यह जानने पर छूट गया कि नमक का स्वभाव खारा है। वैसे ही निज स्वरूप के जानपने में (ज्ञान में) यह भेद प्रगट हुआ।

भावार्थ—जैसे नमक डाल कर व्यंजन बनाया तो उसको कहते हैं कि व्यंजन नमकीन (खारा) है और ऐसा ही जानते भी हैं। परन्तु स्वरूप के विचार से तो खारा नमक ही होता है, व्यंजन तो जैसा था वैसा ही है ॥१५॥

सवैया **जैसे उष्णोदक में उदक स्वभाव सीत,**
आग की उष्णता फरस ज्ञान लखिए।
जैसे स्वाद व्यंजन में दीसत विविधरूप,
लोंण को सुवाद खारो जीभ ज्ञान चखिए॥
तैसे घटपिंड में विभावता अज्ञान रूप,
ज्ञानरूप जीव भेदज्ञान सों परखिए।

भरम सों करम को करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार नाम नखिए ॥१५॥

अनुष्टुप्

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्त्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥१६॥

जीव द्रव्य सभी प्रकार अपने ही परिणामों का कर्त्ता है। कर्मरूप अचेतन पुद्‌गल द्रव्य के परिणामों का तो जीव कभी तीन काल में भी कर्ता नहीं होता। शुद्ध चेतन के विचार से तो जीव अपनी सिद्ध अवस्था के अनुरूप ही परिणमन करता है। अशुद्ध अवस्था में अशुद्ध चेतनारूप विभाव परिणामों में भी परिणमन होता है।

भावार्थ—जीवद्रव्य अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है और शुद्ध चेतनारूप भी परिणमता है। जिस समय जैसी चेतनारूप परिणमता है उस समय वैसी ही चेतना से व्याप्य-व्यापकरूप होता है और इसमें उस समय वैसी ही चेतना का कर्त्ता है तो फिर, ज्ञानावरणादि जो पुद्‌गलपिंडरूप है उनमें तो व्याप्य-व्यापकरूप नहीं होता। उनका तो कर्त्ता नहीं है। सब जगह ऐसा ही अर्थ है ॥१६॥

दोहा—ज्ञान भाव ज्ञानी करे, अज्ञानी अज्ञान।
द्रव्य-कर्म पुद्‌गल करे, यह निश्चै परमान ॥१६॥

अनुष्टुप्

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥

चेतन द्रव्य चेतना मात्र परिणाम करता है। इस तरह आत्मा अपने ही चेतनापरिणाम मात्र स्वरूप है। चेतना परिणाम से भिन्न अचेतन पुद्‌गल-परिणाम कर्म उनको आत्मा क्यों करे। अर्थात् नहीं करता—सर्वथा नहीं करता। जो जानता है कि चेतनद्रव्य ज्ञानवरणादि कर्म को करता है वह मिथ्यादृष्टि जीव का अज्ञान है।

भावार्थ—ज्ञानवरणादि कर्म का करता जीव है ऐसा कहना झूठा है ॥१७॥

दोहा—ज्ञान स्वरूपी आत्मा, करे ज्ञान नहिं और।
द्रव्यकर्म चेतन करे, यह व्यवहारी दौर ॥१७॥

वसंततिलका

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

इस समय जिसका दुर्निवार उदय है ऐसे विपरीत ज्ञान का मूलतः निवारण करने के हेतु, द्रव्यपिंडरूप आठ कर्म का कर्ता जो है, उसका कथन करते है। क्योंकि निश्चय कथन में ऐसी शंका की गई है कि चेतन, द्रव्यपिंड-रूप आठ कर्मो को नहीं करता है तो कौन करता है?

भावार्थ—ऐसी भ्रान्ति उपजी है कि जीव के करने से ज्ञानावरणादि कर्म होते है। उसका उत्तर यह है कि पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणामी है इसलिए वह स्वयं ही सहज भाव से कर्मरूप परिणमन करता है ॥१८॥

सवैया—पुद्गल कर्म करे नहिं जीव, कही तुम मैं समझी नहिं तैसी।
कौन करे यह रूप कहो अब, को करता करनी कहु कैसी॥
आप ही आप मिले बिछुरे जड़, क्यों करि मो मन संशय ऐसी,
शिष्य सन्देह निवारण कारण, बात कहें गुरु है कछु जैसी ॥१८॥

उपजाति

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता ॥१९॥

इस प्रकार, निश्चय से, मूर्तिक अर्थात् पुद्गल द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील है जो अनादि निधन है, सहज है और निर्विघ्न है। इसी परिणमन शक्ति के होने से पुद्गल द्रव्य अपने अचेतनद्रव्यसंबंधी परिणामों को करता है। और पुद्गलद्रव्य ही उन परिणामों का कर्ता है।

भावार्थ—जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गल द्रव्य परिणमन करता है उन भावों का कर्ता पुद्गलद्रव्य ही होता है ॥१९॥

दोहा—पुद्गल परिणामी दरव, सदा परणवे सोय।
यातें पुद्गल कर्म को, पुद्गल कर्ता होय ॥१६॥

उपजाति

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्सकर्ता ॥२०॥

चेतन द्रव्य की सहज, प्रवाहरूप और एक समय भी उससे अलग न होने वाली जो परिणमन करने की सामर्थ्य है वह अनादि काल से ऐसी ही है। ऐसी परिणमन शक्ति के होने से जीव अपने आप से स्वबंधित शुद्ध चेतनारूप तथा अशुद्ध चेतनारूप भावों को करता है। उन परिणामों का निश्चय से जीव ही करनेवाला होता है।

भावार्थ—जीवद्रव्य की अनादि निधन परिणमन शक्ति है ॥२०॥

दोहा—जीव चेतना संजुगत, सदा काल सब ठौर।
तातें चेतन भाव को, करता जीव न और ॥२०॥

आर्या

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥२१॥

कोई ऐसा प्रश्न करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के भेदविज्ञान स्वरूप परिणाम होने का तथा अज्ञानरूप न होने का क्या कारण है ?

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ विचित्र रागादिरूप परिणमन करता है तो भी वह ज्ञानभाव का ही कर्ता है और उसके ज्ञानभाव है, अज्ञानभाव नहीं। सो कैसे है— ऐसा किसी ने पूछा। मिथ्यादृष्टि के परिणाम, उसका समस्त परिणमन, अशुद्ध चेतनारूप होने से बन्ध का कारण होता है। कोई प्रश्न करता है कि ऐसा कैसे है ? तो कहते हैं कि क्योंकि वे समस्त परिणाम ज्ञान की जाति के नहीं होते। भावार्थ—मिथ्यादृष्टि के जो कुछ परिणाम हैं सो सभी बन्ध के कारण हैं ॥२१॥

अडिल्ल—ज्ञानवन्त को भोग निर्जरा हेतु है।
अज्ञानी को भोग बन्ध फल देतु है ॥

यह अचरज की बात हिए नहिं आवही ।
पूछे कोऊ शिष्य गुरु समुझावही ॥२१॥

अनुष्टुप्

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२॥

निश्चय से सम्यग्दृष्टि के जितने भी परिणाम हैं- चाहे वे शुभोपयोग रूप हों अथवा अशुभोपयोग रूप हों—वे सब ज्ञानस्वरूप हैं ।

भावार्थ—सम्यक्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमा है इसलिए सम्यग्दृष्टि के जो भी परिणाम हैं ज्ञानमय शुद्धत्व जाति के होने से कर्म के अबंधक हैं ।

मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्धत्व रूप परिणमा है [अतः उसके सभी परिणाम कर्म बन्ध के कारण हैं]

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव की तथा मिथ्यादृष्टि जीव की क्रियाएं चाहे एक सी हों, क्रिया सम्बन्धी विषय कषाय भी एक सा है परन्तु द्रव्य के परिणमन में भेद है । क्योंकि—सम्यग्दृष्टि का द्रव्य चूंकि शुद्धत्वरूप परिणाम है इसलिए उसके जितने भी परिणाम हैं, चाहे वे बुद्धिपूर्वक अनुभव रूप हों, अथवा विचाररूप हों, अथवा व्रत क्रियारूप हों, अथवा भोगविलास रूप हों, अथवा चारित्रमोह के उदय से क्रोध-मान-माया-लोभ रूप हों, वे सबके सब ही परिणाम ज्ञान जाति से घटित होते हैं और संवर, निर्जरा के कारण हैं । मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्धरूप परिणमन कर रहा है इसलिए जो भी मिथ्यादृष्टि के परिणाम हैं अनुभवरूप तो हैं ही नहीं—इसलिए चाहे सूत्र तथा सिद्धान्तों के पाठरूप हों, अथवा व्रत या तपश्चरणरूप हों, अथवा दान-पूजा-दया-शील रूप हों, अथवा भोगविलासरूप हों, अथवा क्रोध-मान-माया-लोभ रूप हों वे सभी परिणाम अज्ञान जाति के हैं तथा बन्ध के कारण हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं । द्रव्य के परिणमन की ऐसी ही विशेषता है ॥२२॥

सवैया दया दान पूजादिक विषय कषायादिक,
दोऊ कर्म भोग पै दुहू को एक खेत है ।
ज्ञानी मूढ़ करम करत दीसे एक से पै परिणाम,
परिणाम भेद न्यारो न्यारो फल देत है ॥
ज्ञानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जरा को हेतु है ।

वह करतूति मूढ़ करे पै मगनरूप,
अंध भयो ममता सौं बंध फल लेत है ॥२२॥

अनुष्टुप्

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाः ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥२३॥

पहले कह आए हैं कि सम्यक्दृष्टि जीव तथा मिथ्यादृष्टि जीव की बाहरी क्रिया एक सी है। परन्तु दोनों का द्रव्य परिणमन अलग-अलग है। उनके अलग-अलग विशेष परिणमन का अब कथन करेंगे। यद्यपि उनका सर्वथा ज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञान गोचर ही है। मिथ्यादृष्टि जीव का द्रव्यकर्म से धाराप्रवाह रूप निरन्तर बंध होता है। पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप कार्माण-वर्गणा ज्ञानावरणादि कर्म पिंडरूप जीव में प्रवेश कर एक क्षेत्रावगाही होकर बन्ध को प्राप्त होते हैं। जीव और पुद्गल में परस्पर बंध्यबंधक भाव भी है तथा मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व अर्थात् रागद्वेष रूप परिणामबन्ध का बाहरी कारण है। जैसे कलशरूप परिणमन मिट्टी करती है उसमें कुम्भकार का परिणाम उसका बाहरी निमित्त कारण है, उनमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पिंडरूप पुद्गलद्रव्य स्वयं ही व्याप्य-व्यापक रूप हैं और जीव का अशुद्ध चेतनरूप मोह-राग-द्वेष- आदि परिणाम बन्ध का बाहरी निमित्त कारण है—व्याप्य-व्यापकरूप तो नहीं है। उस अशुद्ध चेतनरूप परिणाम का कारण पाकर पुद्गल स्वयं ही कर्मपिंडरूप परिणमन करता है।

भावार्थ- यदि कोई समझे कि जीव द्रव्य तो शुद्ध है केवल उपचार से कर्म बन्ध का कारण होता है सो ऐसा तो नहीं है स्वयं अपने में ही जीव मोह-राग-द्वेष इत्यादि अशुद्ध चेतना परिणामरूप परिणमता है इसलिए कर्म का कारण है।

कर्म के उदय की अवस्था पाकर, उसकी संगति में मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध परिणामरूप परिणमन करता है—ऐसी मिथ्यात्व जाति है।

भावार्थ—द्रव्य कर्म अनेक प्रकार के हैं और उनके उदय भी अनेक प्रकार के हैं। एक कर्म ऐसा है जिसके उदय से शरीर बनता है; एक कर्म ऐसा है जिसके उदय के अनुसार मन, वचन, काय की रचना होती है; एक कर्म ऐसा है जिसके उदय से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है—ऐसे अनेक प्रकार कर्मों के उदय होने से मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों के उदय को अपने आप रूप

अनुभव करना है जिसमें राग-द्वेष-मोह परिणाम होते हैं जिनसे नए कर्मों का बन्ध होता है। मिथ्या-दृष्टि जीव अशुद्ध चेतन परिणाम का कर्ता है जिससे उसको शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं होता और कर्मों के उदय के कार्य को ही अपने रूप मानकर अनुभवन करता है। जैसे मिथ्यादृष्टि के कर्म का उदय है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि के भी है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध स्वरूप का अनुभव है इसलिए कर्म के उदय को कर्म की जाति का ही मान कर अनुभवन करता है। और अपने आप को शुद्ध स्वरूप अनुभवन करता है। इसलिए कर्म के उदय में रंजायमान नहीं होता और राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन नहीं करता। तब उसको कर्म बन्ध नहीं होता और इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अशुद्ध परिणाम का करता नहीं है ॥२३॥

छप्पै ज्यों माटी मांहि कलश, होने की शक्ति रहे ध्रुव।
दंड, चक्र, चीवर, कुलाल, बाहिज निमित्त हुव॥
त्यों पुद्गल परमाणु, पुंज वरगणा भेष धरि।
ज्ञानवरणादिक स्वरूप, विचरन्त विविध परि॥
बाहिज निमित्त बहिरातमा, गहि संशै अज्ञानमति।
जगमांहि अहंकृत भाव सों, कर्मरूप ह्वै परिणमति॥२३॥

उपेन्द्रवज्रा

य एव मुक्तानयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥२४॥

जो कोई जीव निरन्तर शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु में तन्मय है वह जीव द्रव्य-पर्यायरूप विकल्प बुद्धि को तथा एक पक्षरूप अंगीकार को अर्थात् किसी एक पक्ष के पक्षपात को छोड़कर तथा एक सत्ता के अनेक रूप के विचार से रहित होकर, शान्तचित्त व निर्विकल्प समाधान मन में अतीन्द्रिय सुखरूप साक्षात् अमृत का भोग करता है।

भावार्थ—एक सत्ता वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप का विचार करने से विकल्प होता है। विकल्प से मन में आकुलता होती है। आकुलता दुःख है। इसलिए वस्तुमात्र के अनुभव से विकल्प मिटता है। विकल्प मिटने से आकुलता मिटती है। आकुलता मिटने से दुःख मिटता है। इस प्रकार अनुभवशील जीव ही परमसुखी है॥२४॥

सवैया—जे न करें नय पक्ष विवाद, धरें न विषाद, अलीक न भाखें।
जे उद्वेग तजें घट अन्तर, सीतल भाव निरन्तर राखें॥

जे न गुणी गुण भेद विचारत, आकुलता मन की सब नासैं।
ते जग में धरि आतम ध्यान, अखण्डित ज्ञान सुधारस चाखैं ॥२४॥

उपजाति

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२५॥
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२६॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२७॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२८॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२९॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३०॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३१॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलुचिच्चिदेव ॥३२॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३३॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३४॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३५॥

एकस्य बंधो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३६॥
एकस्य मांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३७॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३८॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३९॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४०॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४१॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४२॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४३॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४४॥

चैतन्य मात्र वस्तु को द्रव्यार्थिक नय में ऐसी है या पर्यायार्थिक नय से ऐसी है, ऐसा कहना दोनों ही पक्षपात है। ज्ञान यदि अशुद्ध पर्यायमात्र को ग्रहण करता है तो कहता है कि जीव द्रव्य [कर्मों में] बंधा हुआ है, मुक्त है, कर्ता है, भोक्ता है—आदि।

भावार्थ—एक पक्ष तो ऐसा है कि जीव द्रव्य अनादि काल में कर्म के संयोग से एक पर्यायरूप चला आ रहा है, विभावरूप परिणमन कर रहा है—ऐसा व्यक्ति एक बंध पर्याय को ही अंगीकार किए है और द्रव्य स्वरूप के पक्ष का विचार नहीं करता।

दूसरी ओर, जब द्रव्यार्थिक नय का पक्ष पकड़ता है तो कहता है कि

[जीव] बंधा आदि—नहीं है।

भावार्थ—जीव द्रव्य का तो अनादि-निधन चेतना लक्षण है—ऐसा जो द्रव्य मात्र का पक्ष ग्रहण करता है सो कहता है कि जीव द्रव्य बंधा है ही नहीं, सदा अपने ही स्वरूप है। कोई भी द्रव्य कभी भी अन्य द्रव्य के गुण-पर्याय मे नहीं परिणमन करता, सब ही द्रव्य अपने ही स्वरूप मे अपने में परिणमन करते हैं।

परन्तु जो जीव शुद्ध चेतन-मात्र जीव के स्वरूप का अनुभव कर लेता है वह पक्षपात मे रहित होता है।

भावार्थ—एक वस्तु में अनेक रूपों की कल्पना करना पक्षपात है। यह पक्षपात वस्तु मात्र का स्वाद आने पर स्वयं ही मिट जाता है। जिसको चैतन्यवस्तु के शुद्ध स्वरूप का अनुभव है उसको यह चेतना मात्र वस्तु है ऐसा प्रत्यक्ष रूप मे स्वाद आता है ॥२५॥

सवैया
व्यवहार दृष्टि सों विलोकत बंध्यो सो दीसे,
निहचै निहारत न बांध्यो यह किन ही।
एक पक्ष बंध्यो एक पक्ष सों अबन्ध सदा,
दोउ पक्ष अपने अनादि धरे इनही॥
कोउ कहे समल विमलरूप कोउ कहे,
चिदानन्द तैसा ही बखान्यो जैसे जिनही।
बन्ध्यो माने खुल्यो माने द्वै नय के भेद जाने,
सोई ज्ञानवंत जीव तत्त्व पायो तिनही ॥२५॥

वसंततिलका

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिस्समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥४५॥

पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप के अनुभव मे, अन्तर और बाहर मे जिसको सहज स्वभाव मे एकसी समतारूप चेतना शक्ति है, उस वक्त एक शुद्ध स्वरूप चिद्रूप आत्मा का स्वाद लेता है। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक भेदों के अंगीकार अर्थात् पक्षपातों के समूह तथा अनंत नयों के विकल्पों को दूर ही मे छोड़ कर उस शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—अनुभव निर्विकल्प होता है। अनुभव करने के समय सारे विकल्प छूट जाते हैं। बाह्य व आभ्यन्तर बुद्धि के जितने भी विकल्प हैं उतने ही नय भेद हैं। वे असंख्य भेद बिन उपजाए ही उपजते हैं और निर्भेद वस्तु में भेद कल्पना के समूह हैं। आत्मस्वरूप तो अतीन्द्रिय सुख रूप है ॥४५॥

सवैया—प्रथम नियत नय दूजो व्यवहार नय,
दुहूं को फलावत अनंत भेद फले हैं।
ज्यों-ज्यों नय फैले त्यों-त्यों मन के कल्लोल फैले,
चंचल सुभाव लोकालोकलों उछले हैं॥
ऐसो नय कक्ष ताको पक्ष तजि ज्ञानी जीव,
समरसि भये एकतामों नहिं टले है।
महा मोह नासे शुद्ध अनुभो अभ्यासे निज,
बल परगासि सुखरासी मांहि रले है ॥४५॥

रथोद्धता

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥४६॥

मैं ऐसा ज्ञान पुंज रूप हूं जिसमें प्रकाशमात्र होता है। जिस समय मुझे शुद्ध चिद्रूप का अनुभव होगा उस समय निश्चय से जो अनेक नय विकल्प यद्यपि बहुत हैं परन्तु झूठे हैं—विनश जाएंगे।

भावार्थ—जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार फट जाता है उसी प्रकार निज चैतन्य मात्र का अनुभव होने पर जितने भी समस्त विकल्प हैं, मिट जाते हैं। ऐसी जो शुद्ध चैतन्य वस्तु है, वह तो मेरा स्वभाव है, बाकी सभी कर्म की उपाधि है। यह सब जो अत्यन्त स्थूल विकल्प व भेद कल्पना की तरंगें उठती हैं, वे सब आकुलता रूप हैं इसलिए हेय हैं, उपादेय नहीं हैं ॥४६॥

सवैया—जैसे बाजीगर चोहटे बजाइ ढोल,
नानारूप धरिके भगल विद्या ठानी है।
तैसे मैं अनादि को मिथ्यात्व की तरंगनि सों,
भरम में धाइ बहु काय निज मानी है॥

अब ज्ञान कला जागी भरम की दृष्टि भागी।
अपनि पराई सब सौंज पहचानी है।
जाके उदै होत परमाण ऐसी भाँति भई,
निहचै हमारी ज्योति सोई हम जानी है ॥४६॥

रथोद्धता

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकं ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारं ॥४७॥

शुद्ध चैतन्य का अनुभव करना ही कार्य की सिद्धि है वह अनादि-अनन्त शुद्धस्वरूपचैतन्य अपने उस ज्ञानगुण के द्वारा (जिसका कार्य ही अर्थ ग्रहण करना है) तथा उसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपी तीन भेदों के विचार द्वारा सधता है। यह साधना, जितनी भी असंख्यात लोक-मात्र भेदरूप ज्ञानवरणादि कर्मबंध रचना है—उस सबका ममत्व छोड़ कर सधती है।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप के अनुभव होने पर जो नय विकल्प हैं वे मिटते हैं—वे सब नय कर्म के उदय हैं। वे जितने भी भाव हैं फिर सभी मिट जाते हैं, ऐसा स्वभाव है ॥४७॥

सवैया—जैसे महारतन की ज्योति में लहरि उठे,
जल की तरंग जैसे लीन होय जल में।
तैसे शुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजे बिनसे थिर रहे निज थल में॥
ऐसो अविकल्पी अजल्पि आनन्द रूपि,
अनादि अनंत गहि लीजे एक पल में।
ताको अनुभव कीजे परम पीयूस पीजे,
बन्धको विलास डारि दीजे पुद्गल में ॥४७॥

शार्दूलविक्रीडित

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं।

विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥४८॥

शुद्ध स्वरूप आत्मा अपने ही शुद्ध स्वरूप में परिणमन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक विकल्पों का बिना पक्षपात किए, त्रिकाल ही एक-रूप रहने वाला निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य आत्मा, जो उसका शुद्ध स्वरूप है वैसा ही परिणमित होता है।

भावार्थ जितने नय हैं वे सब श्रुतज्ञान के विषय है और श्रुतज्ञान परोक्ष है जबकि अनुभव प्रत्यक्षज्ञान है। इसलिए श्रुतज्ञान से रहित जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष अनुभव ही है। इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से अनुभव के द्वारा जो शुद्ध स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है वही ज्ञान पुंज वस्तु है। वही परब्रह्म परमेश्वर है, वही पवित्र पदार्थ है, वही अनादि-निधन वस्तु है, वही सम्यग्दर्शन व सम्यकज्ञान है—बहुत क्या कहूं—शुद्ध चैतन्य वस्तु की प्राप्ति जो कुछ कही वही है, जैसे कहो वैसे ही है। भावार्थ—जो शुद्ध चैतन्य वस्तु प्रकाशमान, निर्विकल्प, एकरूप है उसकी महिमा का वर्णन करने के लिए अनन्त नाम भी कहे तो वे सब घटित होते हैं, परन्तु वस्तु तो एक रूप है। वह शुद्ध स्वरूप आत्मा निश्चल ज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं अपने में ही अनुभव में आता है ॥४८॥

सवैया—द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय दोउ,
श्रुतज्ञानरूप श्रुतज्ञान तो परोख है।
शुद्ध परमातमा को अनुभौ प्रकट तातें,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥
अनुभौ प्रमाण भगवान् पुरुष पुराण,
ज्ञान औ विज्ञानघन महा सुख पोष है।
परम पवित्र यो अनंत अनुभौ के,
अनुभौ बिना न कहूं और ठौर मोख है॥

शार्दूलविक्रीडित

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहर-
न्नात्मन्येव सदागतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥४९॥

द्रव्य स्वरूप ऐसा है कि जो चेतन पदार्थ पहले अपने स्वरूप से नष्ट हुआ था वह फिर से उसी स्वरूप को प्राप्त हुआ। जो अनुभव के रसिक पुरुष है वे अपने ज्ञानगुण का अपने आप में निरन्तर अनुभव करते हैं। जैसे पानी का शीत-स्वच्छ द्रवत्व स्वभाव है परन्तु उस निज स्वभाव से कभी च्युत होकर वृक्षरूप आदि परिणमन करता है। वैसे ही जीव द्रव्य का स्वभाव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रियसुख इत्यादि अनन्तगुण है परन्तु अनादि काल से लेकर उनसे भ्रष्ट हो रहा है, विभावरूप परिणमित है। अर्थात् कर्मजनित जितने भी भाव है उनमें अपनेपने की जो संस्कार बुद्धि है उसके समूह में फंसा भवरूपी वन में भ्रमण कर रहा है।

भावार्थ—जैसे पानी अपने स्वाद से भ्रष्ट हुआ नाना वृक्षरूप परिणमन कर रहा है वैसे ही जीवद्रव्य अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट हुआ नाना प्रकार चतुर्गतिरूप (पर्यायरूप) अपने आपको अनुभव करता है। ऐसा क्यों है? ऐसी संस्कार बुद्धि जीव को अनादिकाल से मिली है। जैसे नीचा मार्ग पाकर पानी फिर से अपने निज स्वरूप को प्राप्त होता है। वैसे ही शुद्ध स्वरूप के अनुभव से जीव द्रव्य का जैसा स्वरूप था वैसा ही प्रगट हुआ। भावार्थ—जैसे पानी अपने स्वरूप से भ्रष्ट होता है परन्तु काल का निमित्त पाकर फिर जलरूप होता है—नीचा मार्ग पाकर ढलकता है और फिर से जलाकार हो जाता है—उसी प्रकार जीव द्रव्य अनादि काल से अपने स्वरूप से भ्रष्ट है परन्तु शुद्ध स्वरूप का लक्षण जो सम्यक्त्व गुण है, उसके प्रगट होने पर मुक्त होता है। ऐसा ही द्रव्य का परिणाम है ॥४९॥

सवैया—जैसे एक जल नानारूप दरवानुयोग,
भयो बहु भाँति पहिचान्यो न परत है।
फिर काल पाई दरवानुयोग दूर होत,
अपने सहज नीचे मारग ढरत है॥
तैसे यह चेतन पदारथ विभावतासों,
गति जोनि भेष भव भांवरि भरत है।
सम्यक स्वभाव पाइ अनुभौ के पंथ धाइ,
बंध की जुगति भानि मुकती करत है ॥४९॥

इलोक

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्मकेवलं।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥५०॥

शार्दूलविक्रीडित

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किं ॥५३॥

मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंड कर्म में, निश्चय से एक द्रव्यपना तो नहीं है। और उधर ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंड कर्मों में तथा अशुद्ध भावों में परिणमन कर रहे मिथ्यादृष्टि जीव में भी एक द्रव्यपना नहीं है। जब जीवद्रव्य का तथा पुद्गलद्रव्य का एकपना निषिद्ध है तो फिर जीव ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता है—ऐसी अवस्था कहां से घटित होगी—अपितु नहीं घटती है। जीव द्रव्य का अपने द्रव्य से ही एकत्वपना है। सब ही काल में ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। ज्ञानावरणादि पुद्गलपिंड अपने ही पुद्गलपिंड रूप हैं। द्रव्य का ऐसा स्वरूप अनादि-निधन रूप से प्रगट है। वस्तु का स्वरूप तो जैसा कहा वैसा है फिर यह बड़े अचम्भे की बात है कि मिथ्यामार्ग में जीवद्रव्य की पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्वरूप बुद्धि का क्यों निरन्तर प्रवर्तन हो रहा है।

भावार्थ—जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु मिथ्यात्वरूप परिणमित होता हुआ जीव इनको एक जानता है यह कितने अचम्भे की बात है। आगे यह वर्णन करेंगे कि मिथ्यादृष्टि के एकरूप जानने पर भी जीव-पुद्गल कैसे भिन्न-भिन्न है ॥५३॥

छप्पै—करमपिंड अरु रागभाव मिलि एक होय नहिं,
दोऊ भिन्न स्वरूप बसहिं, दोऊ न जीव महिं।
करमपिंड पुद्गल, भाव रागादिक मूढ भ्रम,
अलख एक पुद्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम॥
निजनिज विलास जुत जगत महिं, जथा सहज परिणमहि तिम,
करतारजीव जड़ करम को, मोह विकल जन कहहि इम॥५३॥

मंदाक्रांता

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।

ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनांनिकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥५४॥

अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, असंख्यात प्रदेशों में प्रगट, अनन्त से अनन्त शक्ति का धारक, ज्ञान गुण के निरंशभेदभाग का अनंतानंत समूह होने से अत्यन्त गम्भीर जो शुद्ध चैतन्य प्रकाश है वह जैसा था वैसा प्रगट हुआ। ज्ञान गुण प्रकाशित होने से कैसे फल की सिद्धि होती है, अब यह कहेंगे। ज्ञान गुण ऐसा प्रकट हुआ कि ज्ञान प्रकाश होकर जो (पहले) अज्ञानपने को लिए हुए जीव मिथ्यात्व परिणाम का करता हो रहा था सो अब अज्ञान भाव का करता नहीं रहा। मिथ्यात्व रागादि विभाव कर्म भी अब उसके रागादि रूप नहीं होते। तब जिस शक्ति ने उसका (जीव का) विभाव परिणमन करवाया था उसी के द्वारा वह फिर अपने स्वभाव-रूप हुआ। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हुआ था वही पुद्गलद्रव्य कर्मपर्याय को छोड़कर फिर पुद्गलद्रव्य हो गया ॥५५॥

॥ इति तृतीयो अध्याय ॥

चतुर्थ अध्याय

पुण्य-पाप एकत्व द्वार

द्रुतविलंबित

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१॥

जो रागादि अशुद्धचेतनपरिणाम अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंडरूप में एकत्वपना साध रहा था (मान रहा था) उसमें दोपना करके, अत्यन्त घने मिथ्यात्व अंधकार को दूर करके, विद्यमान शुद्ध ज्ञान प्रकाश रूपी चन्द्रमा जैसा था, वैसा ही अपने तेजपुंज में प्रगट हुआ। पहले भले और बुरे के चक्र में विहार कर रहा था जो अब छूट गया।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टि जीव का ऐसा अभिप्राय है कि दया-व्रत-तप-शील-संयम आदि जितनी भी शुभ क्रियाएँ हैं और उनके अनुसार जो शुभोपयोग परिणाम है तथा उन परिणामों के निमित्त से जो साता-कर्म आदि पुण्यरूप पुद्गलपिंड का बंध होता है वह अच्छा है, जीव को सुखकारी है या, हिंसा-विषय-कषायरूप जितनी क्रियाएँ है उनके अनुसार जो अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम हैं तथा उनके निमित्त से असाता कर्म आदि पापरूप पुद्गल पिंड का बन्ध होता है वह बुरा है, जीव को दुःखकर्त्ता है। परन्तु—अशुभ कर्म जीव को दुःखकर्त्ता है तो शुभकर्म भी जीव को दुःखकर्त्ता ही है। कर्म में तो कोई अच्छा नही, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अपने मोह के कारण (शुभ) कर्म को भला मानता है—ऐसी सम्यक् प्रतीति शुद्ध स्वरूप के अनुभव होने पर होती है ॥१॥

कवित्त—जाके उदै होत घट अंतर, बिनसे मोह महा तम रोक,
शुभ अरु अशुभ करम की दुविधा, मिटै सहज दीसे इक थोक ॥
जाकी कला होत संपूरण, प्रतिभासे सब लोक अलोक।
सो प्रतिबोध शशि निरखि बनारसि, सीस नमाइ देत पग धोक ॥१॥

मंदाक्रांत।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥२॥

चांडाली के पेट से एक साथ जन्मे हैं इसलिए दोनों ही पुत्र चांडाल हैं। दोनों के ही चाण्डाल होने में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु परमार्थ-शून्य अभिमान मात्र के कारण ब्राह्मण और शूद्र आदि के वर्णभेद का भ्रम हुआ है। उनमें से एक, उपजा तो चांडाली के पेट से है परन्तु उसका प्रतिपालन ब्राह्मण के घर में होने से वह मुरापान आदि का अति ही त्याग करता है। इतना विरक्त हो गया है कि छूना भी नहीं है, उसका नाम भी नहीं लेता है, मैं ब्राह्मण हूँ ऐसा उसको पक्षपात है। दूसरा भी शूद्री के पेट से उपजा है परन्तु उसका शूद्र के यहां प्रतिपालन हुआ है ऐसा जीव मदिरा को आवश्यक जान नित्य ही अति मग्न होकर पीता है। कहता है -मैं शूद्र हूँ, मेरे कुल में मदिरा योग्य है।

भावार्थ—किसी चांडाली के दो युगलिया पुत्र एक ही बार में जन्मे। कर्मयोग से एक पुत्र का प्रतिपालन ब्राह्मण के यहाँ हुआ वह तो ब्रह्मणों की क्रियाएँ करने लगा। दूसरे पुत्र का प्रतिपालन चांडाली के यहाँ हुआ तो वह चांडाल की ही क्रियाएं करने लगा। जो दोनों के वंश की उत्पत्ति का विचार किया जाए तो दोनों ही चाण्डाल हैं। वैसे ही कोई जीव दया-व्रत-शील-संयम में मग्न है उसके शुभ कर्म का ही बन्ध होता है और कोई जीव हिंसा-विषय-कषाय में मग्न है उसको पाप का बन्ध ही होता है। सो दोनों ही अपनी-अपनी क्रियाओं में मग्न है। दोनों ही मिथ्यादृष्टिपने से ऐसा मानते हैं कि शुभ कर्म भला है, अशुभ कर्म बुरा है। सो ऐसे दोनों ही जीव मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ही जीव कर्म-बन्ध करने वाले हैं। जैसे जो शूद्री के पेट से उपजा वह, इस मर्म को तो जानता नहीं, परन्तु कहता है मैं ब्राह्मण हूं, हमारे कुल में मदिरा निषिद्ध है ऐसा जान कर मदिरा छोड़ता है तो भी विचार करो तो वह चांडाल ही है। उसी प्रकार कोई जीव शुभोपयोगी होकर यति क्रियाओं में मग्न होता हुआ शुद्धोपयोग को नहीं जानता है— मात्र यति क्रियाओं में ही मग्न है- ऐसा जीव यह मानता है कि मैं तो मुनीश्वर

है मेरे लिए विषय-कषाय इत्यादि सामग्री निषिद्ध है। ऐसा जानकर ही विषय-कषाय आदि सामग्री को छोड़ता है, अपने आपको धन्य मानता है और अपने मार्ग को मोक्षमार्ग मानता है। परन्तु विचार करें तो ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्मबन्ध को करता है, कोई भलापना तो नहीं है। जो मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी हैं, गृहस्थ की क्रियाओं में रत हैं और समझता है कि हम गृहस्थ हैं, हमारे लिए विषय-कषाय आदि क्रियाएं योग्य हैं और इस प्रकार विषय-कषाय का सेवन करता है, वह भी जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्म का बन्ध करता है। वह कर्म-जनित पर्याय को ही अपने रूप जानता है। इसको जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं ॥२॥

सवैया जैसे काहू चण्डाली जुगल पुत्र जने तिन,
एक दीयो बामनकूं एक घर राख्यो है।
बामन कहायो तिन मद्य मांस त्याग कीनो,
चाण्डाल कहायो तिन मद्य मांस चाख्यो है॥

तैसे एक वेदनीय करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्य नाम भिन्न भाख्यो है।
दुहूं मांहि दौर धूप, दोऊ कर्म बन्ध रूप,
याते ज्ञानवन्त कोऊ नांहि अभिलाख्यो है॥२॥

उपेन्द्रवज्रा

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां, सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं, स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥३॥

मान्यता के अन्तर से कोई प्रश्न करता है और कहता है कि कर्मों में भेद तो है—कोई कर्म शुभ है, कोई अशुभ है। उनके हेतु में भेद है, स्वभाव में भेद है, अनुभव में भेद है और उनका आश्रय भी भिन्न-भिन्न है। इस तरह चार प्रकार से कर्मों में भेद है। उनके हेतु अर्थात् कारण में इस प्रकार भेद है कि संक्लेश परिणामों से अशुभ कर्म बंधता है और शुभ परिणामों से शुभ बन्ध होता है। स्वभाव भेद अर्थात् प्रकृति भेद इस प्रकार है कि अशुभ कर्मों की प्रकृति भिन्न है तथा उनकी पुद्गल कर्म वर्गणा भिन्न है और शुभ कर्मों की प्रकृति भिन्न है और उनकी पुद्गल कर्मवर्गणा भी भिन्न है। कर्मों के अनुभव में अर्थात् उनके रस में भी भेद है—अशुभ कर्म के उदय से

नारकी, तिर्यंच या हीन मनुष्य होता है जहां अनिष्ट करने वाले विषयों के संयोग से दुःख पाता है जो अशुभ कर्मों का स्वाद है। शुभ कर्म के उदय से जीव देव या उत्तम मनुष्य होता है। वहां इष्ट करने वाले विषय संभोग रूप सुख को पाता है, जैसा शुभ कर्म का स्वाद है। तो यह स्वादभेद है। अब फल की प्राप्ति के विचार में भी भेद है—अशुद्ध कर्म के उदय से हीन पर्याय होती है और अधिक संक्लेश होकर संसार की परिपाटी बनती है। शुभ कर्म के उदय में उत्तम पर्याय होती है, जहां धर्म की सामग्री मिलती है जिसमें जीव मोक्ष जाता है। तो इस तरह मोक्ष की परिपाटी शुभ कर्म है। ऐसा कोई मिथ्यावादी मानते हैं जिसका उत्तर इस प्रकार है—

कोई कर्म शुभरूप है, कोई कर्म अशुभरूप है ऐसा कोई अन्तर या भेद नहीं है। कर्म के बंध के कारण जो शुभ परिणाम या संक्लेश परिणाम हैं, वे दोनों ही परिणाम अशुद्धरूप हैं, अज्ञानरूप हैं। अतः दोनों के कारण में कोई भेद नहीं है। कारण एक ही है। स्वभाव के विचार से शुभकर्म और अशुभ-कर्म ऐसे दोनों कर्म पुद्गल पिंडरूप हैं इसलिए दोनों का एक ही स्वभाव है—स्वभाव का भेद भी नहीं है। अनुभव अर्थात् उनके रस में भी भेद नहीं है- शुभ कर्म के उदय से जीव बंधा और सुखी है, अशुभ कर्म के उदय से भी जीव बंधा और दुःखी है। दोनों ही दशाओं में बंधा है—इसमें विशेष अन्तर कोई नहीं है। आश्रय अर्थात् फल की प्राप्ति के विचार से भी एक ही है, कोई विशेष अन्तर नहीं है—शुभ कर्म के उदय में संसार परिपाटी बनती है वैसे ही अशुभकर्म के उदय में भी संसार की ही परिपाटी बनती है। इस प्रकार यह अर्थ ठहरा कि कोई कर्म भला, कोई कर्म बुरा—ऐसा नहीं है, सभी कर्म दुःखरूप हैं। कर्म निःसन्देह बन्ध को करने वाले हैं, ऐसा गणधरदेव ने माना है। इस प्रकार निश्चय से जितनी भी कर्मजाति है, स्वयं ही बन्ध रूप है।

भावार्थ—जो स्वयं मुक्त स्वरूप होगा वही कदाचित् मुक्ति को करेगा। कर्म जाति अपने आप ही बन्ध पर्यायरूप, पुद्गल पिंडरूप, बंधी है सो वह मुक्ति कहां से कर सकती है। इसलिए कर्म सर्वथा बंधमार्ग है ॥३॥

सवैया—संकिलेस परिणामनिसों पाप बन्ध होय,
विशुद्धसों पुन्यबन्ध, हेतु भेद मानिए।
पाप के उदै असाता ताको है कटुक स्वाद,
पुन्य उदै साता मिष्ट रसभेद जानिए॥
पाप संक्लेस रूप पुन्य है विशुद्ध रूप,
दुहूं को स्वाव भिन्न भेद यों बखानिए।

पापसों कुगति होय पुन्यसों सुगति होय।
ऐसो फलभेद परतक्ष परमानिए ॥
पाप बन्ध पुन्य बन्ध दुहूमें मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल को पेखिए।
संकिलेस विशुद्धि सहज दोउ कर्म चाल,
कुगति सुगति जग जाल में बिसेखिए ॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसो द्वैतभाव ज्ञानदृष्टि में न लेखिए।
दोउ महा अन्ध कूप, दोउ कर्म बंधरूप,
दुहूं को विनाश मोक्षमारग में देखिए ॥३॥

रथोद्धता

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥४॥

इस प्रकार सर्वज्ञवीतराग ने समस्त शुभरूप-व्रत-संयम-तप-शील-उपवास इत्यादि क्रियाओं को अथवा विषय-कषाय इत्यादि अशुभरूप क्रियाओं को एकसी दृष्टि से बंध का कारण कहा है।

भावार्थ—जैसे जीव को अशुभ क्रिया करने से बंध होता है वैसे ही शुभ क्रिया करने से भी जीव को बंध होता है। बंध में तो विशेष अन्तर नहीं। इसलिए कोई मिथ्यादृष्टि जीव शुभ क्रिया को मोक्षमार्ग जान कर उसका पक्षपात करे तो उसका निषेध किया है। ऐसा भाव रक्खा कि कोई भी कर्म मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय से शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही मोक्षमार्ग है। अनादि काल की परम्परा से ऐसा ही उपदेश है ॥४॥

सवैया—सील तप संयम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंयम कषाय विषै भोग है।
कोउ शुभरूप कोउ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्म रोग है ॥
ऐसी बन्ध पद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम में करत त्याग जोग है।
भौ जल तरैया रागद्वेष के हरैया,
महा मोक्ष के करैया एक शुद्ध उपयोग है ॥४॥

शिखरिणी

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥५॥

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब शुभ क्रिया और अशुभ क्रिया सभी निषिद्धकारी हैं तो मुनीश्वर किसका अवलम्बन लेते हैं ? इसका इस प्रकार समाधान किया है—आमूल-चूल से अर्थात् जड़ मात्र से व्रत-संयम-तपरूप क्रिया अथवा शुभोपयोगरूप परिणाम या संक्लेश परिणाम—ऐसी जितनी भी क्रियाएं हैं वे कोई भी मोक्षमार्ग नहीं हैं। सूक्ष्म या स्थूल रूप जितने भी अंतर्जल्प या बहिर्जल्प विकल्प है उनसे रहित निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य मात्र प्रकाशरूप वस्तु ही मोक्ष मार्ग है। एकरूप ऐसा ही है—जो निश्चय से ऐसा मान कर चलते हैं उन्हीं के मोक्षमार्ग है।

जिन्होंने संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर यतिपना (मुनिपना) धारण किया है उनका मन, बिना आलम्बन के, शून्य है—ऐसा तो नहीं है। तो कैसा है ? जब ऐसी प्रतीति होती है कि अशुभक्रिया मोक्षमार्ग नहीं, और शुभ क्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं, तब निश्चय ही मुनीश्वर को शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही आलम्बन होता है। जो ज्ञान बाहर परिणमन करता था वही अपने शुद्ध स्वरूप में परिणमन करता है। शुद्ध स्वरूप के अनुभव होने की यह विशेषता होती है कि जो सम्यक्दृष्टि मुनीश्वर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करते हैं, जो उसी में मग्न हैं, वे सर्वोत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन करते हैं।

भावार्थ—शुभ क्रियाओं में मग्न हुआ व्यक्ति विकल्पी होने से दुःखी है। क्रियाओं का संस्कार छूटने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो तो जीव निर्विकल्प होता है। उसी से सुखी होता है ॥५॥

सवैया—शिष्य कहे स्वामी तुम करनी अशुभ शुभ,
कीनी है निषेध मेरे संशै मन मांहि है।
मोक्ष के सधैया ज्ञाता देश विरती मुनीश !
तिनकी अवस्था तो निरालम्ब नाहीं है ॥
कहै गुरु करम को नाश अनुभौ अभ्यास,
ऐसो अवलम्ब उनहीं को उन मांहि है।

निरुपाधि आतम समाधि सोई शिव रूप,
और दौर धूप पुद्गल परछांही है ॥५॥

शिखरिणी

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं ।
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ॥
अतोऽन्यद्‌बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत् ।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥६॥

जिस चेतना लक्षण सत्व (गुण) स्वरूप वस्तु को निश्चय से स्थिर प्रत्यक्ष रूप से स्वरूपका आस्वादक कहा है वह स्वयं अपने में ही मोक्षरूप है।

भावार्थ- जीव का स्वरूप सदा कर्म से मुक्त है जिसके अनुभव से मोक्ष होना है ऐसा घटित होना है, इसमें कुछ विरुद्ध तो नहीं है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है, उसके सिवाय सब अनेक प्रकार की शुभ क्रियाएं व अशुभ क्रियाएं बंध का मार्ग है। वे स्वयं ही सब की सब बन्ध रूप है। पूर्वोक्त चेतना लक्षण जीव निश्चय से प्रत्यक्ष रूप से निज गुण के आचरण का स्वाद लेता हुआ (अनुभव करता हुआ) मोक्षमार्ग है ॥६॥

सवैया—मोक्ष स्वरूप सदा चिन्मूरति, बंध मई करतूति कही है ॥
जावत काल बसे जहं चेतन, तावत सो रस रीति गही है ॥
आतम को अनुभौ जबलों, तबलों शिवरूप दशा निबही है ॥
अंध भयो करनी जब ठानत, बंध विथा तब फैलि रही है ॥६॥

श्लोक

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७॥

ज्ञानरूपी शुद्ध चेतन वस्तुमात्र के स्वरूप की पूर्णता (स्वरूपाचरण-चारित्र) में ही मोक्षमार्ग है। इस बात में संदेह नहीं।

भावार्थ—यदि कोई समझे कि स्वरूपाचरणचारित्र उसको कहा है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विचार करे अथवा चिन्तन करे अथवा एकाग्र मन से अनुभवन करे—सो ऐसा तो नहीं है। ऐसा करते हुए तो बंध होता है। इसलिए ऐसा तो स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता। तो प्रश्न उठता है कि फिर स्वरूपाचरण चारित्र कैसा है? जैसे पकाने से

स्वर्ण के भीतर की कालिमा चली जाती है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही जीव द्रव्य में अनादि से जो अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणमन थे वे चले जाते हैं और शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्ध चेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है। उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र कहा है—ऐसा मोक्षमार्ग है। इसका विशेष विवरण इस प्रकार है—जब तक शुद्ध परिणमन सर्वोत्कृष्ट दशा को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक शुद्धपने के अनेक भेद हैं। वे भेद जाति-भेद से नहीं है—बहुत शुद्धता, उससे ज्यादा शुद्धता, फिर उससे भी अधिक शुद्धता, ऐसा थोड़-बहुत की अपेक्षा से भेद है। भावार्थ—जितनी शुद्धता हुई उतनी ही मोक्ष का कारण है। जब सर्वथा शुद्धता होती है तब सकल कर्मों का क्षय जिसका लक्षण है उस मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। त्रिकाल में शुद्ध चेतना रूप परिणमन करने वाला जो स्वरूपाचरण चारित्र है वह आत्मद्रव्य का निज-स्वरूप है। शुभाशुभ क्रियाओं की भांति उपाधिरूप नहीं है। इसलिए वह एक जीवद्रव्यस्वरूप है। भावार्थ—यदि गुण व गुणी की अपेक्षा से भेद किया जाए तो ऐसा भेद होता है। परन्तु यदि जीव की शुद्धगुणमय वस्तु मात्र का अनुभव करें तो ऐसा भेद भी मिट जाय। इस प्रकार शुद्धपने से जीव द्रव्य की तो एक ही सत्ता है। ऐसा शुद्धपना मोक्ष का कारण है। इसके बिना जो कुछ भी क्रियारूप है वह सब बंध का कारण है ॥७॥

सोरठा—अन्तर दृष्टि लखाव, निज स्वरूपको आचरण।
ए परमातम भाव, शिव कारण येई सदा ॥७॥

श्लोक

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८॥

जितना भी शुभ क्रिया रूप अथवा अशुभ क्रियारूप आचरण के लक्षण से युक्त चारित्र है वह चारित्र शुद्ध चैतन्य वस्तु का शुद्ध स्वरूप परिणमन नहीं है, यह तो निश्चय है।

भावार्थ—जितनी भी शुभ या अशुभ क्रियाएं हैं उनका आचरण चाहे बाहरी वक्तव्य हो या सूक्ष्म अंतरंग में चिंतवन हो, अभिलाषा या स्मरण इत्यादि हो, यह सारा ही आचरण अशुद्धत्वरूप परिणमन है, शुद्ध परिणमन नहीं है, इसलिए वह बंध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है। जैसे कामला का सिंह कहने मात्र को सिंह है उसी तरह आचरणरूप चरित्र कहने मात्र को

चारित्र है, परन्तु (असल में) चारित्र नहीं है। इस प्रकार बाहरी या अंतरंग का अथवा सूक्ष्म स्थूलरूप कोई भी आचरण कर्म के क्षय का कारण नहीं, बन्ध का ही कारण है। विकल्परूप आचरण आत्मद्रव्य से भिन्न है, पुद्गल द्रव्य का स्वभाव और पुद्गल द्रव्य के उदय का कार्य है, जीव का स्वरूप नहीं है। भावार्थ— जो भी अन्तर्जल्प या बहिर्जल्प, सूक्ष्म या स्थूल क्रियाएं हैं— चाहे वे शुभ हों अथवा अशुभ—विकल्परूप आचरण होने से सभी कर्म के उदयरूप परिणमन हैं, जीव के शुद्ध परिणमन नहीं हैं, बन्ध के ही कारण हैं ॥८॥

सोरठा—कर्म शुभाशुभ दोय, पुद्गलपिंड विभावमल।
इनसों मुक्ति न होय, नांही केवल पाइये ॥८॥

श्लोक

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥९॥

कोई कहे कि क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है वह करने योग्य नहीं है तो वर्जन योग्य भी नहीं है। इसका उत्तर यही है कि वर्जन योग्य है क्योंकि व्यवहार चारित्र होने से दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है और इसलिए विषय-कषाय की भांति क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है। शुभ-अशुभ रूप करतूत त्यजनीय है—निषिद्ध है। मोक्ष अर्थात् निष्कर्म अवस्था का कारण जीव का शुद्धत्व परिणमन है उसके लिए करतूत (क्रिया) घातक होने से निषिद्ध है। स्वयं ही बंधरूप है।

भावार्थ—जितने भी शुभ-अशुभ आचरण है वे समस्त कर्म के उदय से अशुद्धरूप हैं इसलिए त्याज्य हैं, उपादेय नहीं हैं॥ मोक्ष अर्थात् सकल-कर्मक्षय लक्षण परमात्मपद का सहज लक्षण जीव का शुद्ध चेतनारूप परि-णमन जो गुण है, कर्म उसका घातनशील है इसलिए कर्म (क्रिया) निषिद्ध है। भावार्थ—जैसे पानी का स्वरूप तो निर्मल है परन्तु कीचड़ मिलकर मैला होता है और पानी के शुद्धपने का घात हो जाता है, वैसे ही जीव द्रव्य स्वभाव से स्वच्छ स्वरूप है, केवलज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप है। वह स्वच्छ-पना विभावरूप अशुद्ध चेतना जिसका लक्षण है उस मिथ्यात्व तथा विषय-कषायरूप परिणाम से मिट गया है। अशुद्ध परिणाम का स्वभाव ऐसा ही है कि वह शुद्धपने को मिटा देता है, इसीलिए कर्म (क्रिया) निषिद्ध है। मानों

कोई जीव क्रियारूप यतिपना अपना मे और उस यतिपने में ही मग्न होकर कहे कि—हमने मोक्षमार्ग पा लिया, क्योंकि जो करना था वह तो कर लिया। ऐसे जीव को समझाते हैं कि यतिपने का भरोसा छोड़ कर शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करो ॥६॥

सवैया—कोउ शिष्य कहे स्वामी अशुभ क्रिया अशुद्ध,
शुभ क्रिया शुद्ध तुम ऐसी क्यों न बरनी।
गुरु कहे जबलों क्रिया के परिणाम रहे,
तबलों चपल उपयोग जोग धरनी ॥
थिरता न आवे तौलों शुद्ध अनुभौ न होय,
यातें दोउ क्रिया मोक्ष पंथ की कतरनी।
बंध को करैया दोउ, दुहू में न भली कोउ,
बाधक विचार में निषिद्ध कीनो करनी ॥६॥

शार्दूलविक्रीडित

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०॥

जो जीव सकल कर्म-क्षय के लक्षण से युक्त पद को (अनन्तसुख में) उपादेय अनुभव करता है, उसके लिए, पहले वर्णित जितने भी शुभ क्रियारूप, अथवा अशुभ क्रियारूप, अन्तर्जल्प रूप अथवा बहिर्जल्प रूप क्रियाएं हैं अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गल के पिंड अशुद्ध रागादि रूप जीव के परिणाम हैं, वे सब जीव-स्वरूप के घातक होने से आमूल-चूल त्याज्य हैं। जब समस्त ही कर्मों का त्याग है तो फिर पुण्य का या पाप का क्या भेद रहा?

भावार्थ—जब समस्त कर्म जाति ही हेय है तब पुण्य-पाप के विचार की क्या बात रही? यह बात निश्चय से जान लो और पुण्य कर्म भला है, ऐसी भ्रांति में मत पड़ो। सकल कर्मक्षय लक्षण युक्त अवस्था का कारण जो शुद्ध चेतनारूप परिणमन, वह ही मोक्ष का कारण है, उसमें समस्त कर्म जाति का स्वयं ही सहज ही त्याग हो जाता है। भावार्थ—जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर अन्धकार सहज ही मिटता है, वैसे ही जीव के शुद्ध चेतन-रूप परिणमन से, समस्त विकल्प मिट जाते हैं, ज्ञानावरणादि कर्म-अकर्म रूप

परिणमन कर जाते हैं तथा रागादि अशुद्ध परिणाम मिट जाते हैं। ज्ञान निर्विकल्प स्वरूप है, प्रगट ही चेतन्य स्वरूप है। इसीलिए मोक्ष का कारण है और जीव सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र जो जीव के निज-स्वभाव तथा क्षायिक गुण हैं उनका प्रकट रूप ही भवन अर्थात् धारण करने वाला है। भावार्थ– यदि कोई यह शंका उठाए कि मोक्ष मार्ग तो सम्यक्‌-दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों के मिलने मे है तो फिर यहाँ ज्ञान मात्र को मोक्षमार्ग कैसे कहा? उसका समाधान यह है कि शुद्ध स्वरूप ज्ञान में सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌चारित्र भी सहज ही शामिल है। इसलिए इस कथन में कोई दोष नहीं बल्कि गुण है ॥१०॥

सवैया—मुकति के साधक को बाधक करम सब,
आत्मा अनादि को करम मांहि लुक्यो है।
एते परि कहे जो कि पाप बुरो पुण्य भलो,
सोई महामूढ़ मोक्ष मारगसों चुक्यो है॥
सम्यक्‌ स्वभाव लिए हिये में प्रगटो ज्ञान,
ऊरध उमंगि चल्यो काहू पै न रुक्यो है।
आरसी सो उज्ज्वल बनारसी कहत आप,
कारण स्वरूप ह्वै के कारिज को ढुक्यो है॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्‌ न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्-
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११॥

कोई माने कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना तो क्रिया रूप है इसलिए बंध का कारण है परन्तु सम्यक्‌दृष्टि जीव का यतिपना तो शुभक्रियारूप और मोक्ष का कारण है, जिसमे अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप संयमरूप क्रियाएं दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते है—तो यह भ्रान्ति है और ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करते हैं। इसका समाधान इस प्रकार है—जितनी भी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्प रूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्प रूप विकल्प, या द्रव्य का विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार इत्यादि समस्त विकल्प कर्म बन्ध के कारण हैं। क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है।

सम्यकदृष्टि और मिथ्यादृष्टि में ऐसा भेद तो कोई नहीं है। कैसी भी करतूति करो, ऐसा ही बन्ध है। शुद्ध स्वरूप परिणमन मात्र से ही मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यकदृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी हैं परन्तु विक्रिया (विभाव) रूप जो परिणाम है उनसे तो एकमात्र बन्ध ही होता है, कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता—ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। दूसरी तरफ जिसको] जिस काल में शुद्ध स्वरूप का अनुभव-ज्ञान हो रहा है उस काल में ज्ञान से कर्म का क्षय ही होता है एक अंश मात्र भी बन्ध नहीं होता। वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है॥ कभी कर्मरूप परिणाम और आत्मद्रव्य के शुद्धस्वरूप परिणमन का एक ही जीव में एक ही काल में अस्तित्व हो ऐसा भी है—इसमें कोई हानि (दोष) नहीं है।

भावार्थ—कोई कहे कि एक ही जीव में, एक ही काल में, ज्ञान और क्रिया दोनों कैसे होते हैं तो उसका समाधान है कि यह कोई विरोधी बात नहीं है। कभी एक ही समय में दोनों होते हैं ऐसा ही वस्तु का परिणाम है। यद्यपि यह विरोधी-सा दीखता है, परन्तु दोनों का अपना-अपना स्वरूप है, विरुद्ध नहीं है। पूर्वोक्त कथन के अनुसार जितने काल तक आत्मा का मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम मिटता है उसका आत्मद्रव्य (उस काल में) शुद्ध होता है, परन्तु अभी कर्म का मूल से त्याग या विनाश नहीं हुआ है। भावार्थ—जब तक शुभ-अशुभ परिणमन है तब तक जीव का विभाव परिणमन रूप है। उस विभाव परिणमन का अंतरंग निमित्त है और बहिरंग निमित्त भी है। जीव की जो विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है वह तो अंतरंग निमित्त है और पुद्गलपिण्ड के उदय में उपजा मोहनीय कर्म रूप परिणमन उसका बहिरंग निमित्त है। मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है—एक मिथ्यात्वरूप है, दूसरा चारित्रमोह रूप। जीव का विभाव परिणाम भी दो प्रकार का है। जीव का एक सम्यक्त्व गुण है, वही विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है। तो उसका अंतरंग निमित्त मिथ्यात्वरूप परिणाम है। जीव में एक चारित्र गुण है जो पुद्गल पिण्ड (कर्म) के उदय से विभावरूप परिणमन करता हुआ विषय-कषाय लक्षण में युक्त चारित्र मोहरूप परिणमता है। उसका बहिरंग निमित्त है—चारित्र मोहरूप परिणमन किया हुआ पुद्गलपिंड का उदय। उपशम का क्रम ऐसा है कि पहले मिथ्यात्व कर्म का उपशम होता है अथवा क्षय होता है। उसके बाद चारित्रमोहकर्म का उपशम होता है अथवा क्षय होता है। किसी आसन्न भव्य जीव के काललब्धि पाकर मिथ्यात्वरूप पुद्गल-पिंडकर्म का उपशम होता है अथवा क्षय

होता है। ऐसा होने पर जीव सम्यक्त्व गुणरूप परिणमन करता है—वह परिणमन शुद्धतारूप है। जब तक वह जीव क्षपकश्रेणी न चढ़े तब तक उसको चारित्र मोह कर्म का उदय है। ऐसे उदय में जीव फिर विषय-कषाय-रूप परिणमन करता है—वह परिणमन रागरूप है, अशुद्धरूप है। इस प्रकार किसी काल में किसी जीव के शुद्धपना और अशुद्धपना दोनों एक ही समय में घटित होता है—इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ इसमें जो विशेष बात है कि यद्यपि जीव को एक ही काल में शुद्धपना तथा अशुद्धपना दोनों होते हैं तथापि वे अपना-अपना कार्य करते हैं। सम्यक्दृष्टि पुरुष समस्त द्रव्यकर्मरूप भावकर्मरूप अंतर्जल्प, बहिर्जल्परूप, सूक्ष्म-स्थूलरूप क्रिया से विरक्त है परन्तु चारित्रमोह के उदय में बलात् उसे क्रिया करनी पड़ती है। जितनी भी क्रिया है उतनी ही ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंश मात्र भी नहीं करती है। पूर्वोक्त कथन के अनुसार एक ज्ञान ही अर्थात् एक शुद्ध चैतन्य प्रकाश ही ज्ञानावरणादि कर्म को क्षय करने का निमित्त है। भावार्थ—एक जीव में शुद्धपना और अशुद्धपना दोनों एक ही काल में होते हैं। परन्तु जितने अंश में शुद्धपना है उतने अंश में कर्मों का क्षय है और जितने अंश में अशुद्धपना है उतने अंश में कर्मबंध होता है। एक ही समय में दोनों कार्य होते हैं। यह ऐसा ही है, इसमें सन्देह करना नहीं। शुद्ध ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है, पूज्य है और त्रिकाल में समस्त परद्रव्य से भिन्न है ॥११॥

सवैया—जौलों अष्ट कर्म को विनाश नांहि सर्वथा,
तौलों अन्तरातमा में धारा दोई वरनी।
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुहूं की प्रकृति न्यारी-न्यारी धरनी ॥
इतनो विशेष जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्ष की करनहार,
दोष की हरनहार भौ समुद्र तरनी ॥११॥

शार्दूलविक्रीडित

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमः।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥

अनेक प्रकार की क्रिया को मोक्ष का अवलम्बन (मार्ग) जानकर जो अज्ञानी जीव उनके (उन क्रियाओं के) पालन में तत्पर है वे भी मझधार में डूबेंगे क्योंकि वे शुद्ध चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्ष रूप से आस्वादन करने में समर्थ नहीं हैं। क्रिया ही मोक्षमार्ग है वे ऐसा जान कर क्रिया करने में तत्पर हैं।

भावार्थ—वे संसार में रुलते हैं, मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं ॥ जो जीव शुद्ध चैतन्य प्रकाश के (मात्र) पक्षपाती हैं ऐसे भी जीव संसार में डूबे ही हैं। भावार्थ—शुद्ध स्वरूप का उसको अनुभव तो है नहीं परन्तु उसने उसका मात्र पक्षपात पकड़ रक्खा है। ऐसा भी जीव संसार में डूबा ही है। क्योंकि वह अत्यन्त स्वेच्छाचारी है। वह चैतन्य स्वरूप का विचार मात्र भी नहीं करता है। ऐसा जो कोई हो, उसको मिथ्यादृष्टि जानना।

यहां कोई आशंका करे कि शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है ऐसी जिसको प्रतीति है वह मिथ्यादृष्टि कैसे हुआ ?

समाधान—वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि जितने काल तक शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है उतने काल तक जितनी भी अशुद्धतारूप भाव-द्रव्यरूप क्रियाएं हैं वे सब सहज ही मिट जाती हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि सब क्रियाओं के ज्यों की त्यों ही रहते हुए भी शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग बन जाता है। सो वस्तु का स्वरूप ऐसा तो नहीं है। इसलिए जो वचनमात्र से यह कहता है कि शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। ऐसा कहने से तो कोई कार्य की सिद्धि नहीं है। यदि कोई जीव सम्यक्दृष्टि है तो ऊपर कहे दोनों प्रकार के जीवों से ऊपर उठ कर सकल कर्मों का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त होता है। जो कोई निकट संसारी सम्यक्दृष्टि जीव निरंतर शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन कर रहा है वह (अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हुए भी) अनेक प्रकार की क्रियाओं को मोक्षमार्ग मान कर नहीं करता है।

भावार्थ—कर्म के उदय से शरीर कैसा ही है परन्तु उसको हेय रूप जानता है। तथा अनेक प्रकार की क्रियाएँ भी जैसी हैं परन्तु उनको हेय रूप मानता है ॥ क्रिया तो कुछ नहीं ऐसा जान कर वह विषयी या असंयमी कदाचित् भी नहीं होता। क्योंकि असंयम का कारण जो तीव्र संक्लेश परिणाम है वह संक्लेश तो मूल ही से चला गया है। ऐसा जो सम्यक्दृष्टि

जीव है वह जीव तत्काल मात्र मोक्ष पद को पाता है ॥१२॥

सवैया- समझे न ज्ञान, कहे करम किए सों मोक्ष,
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल में।
ज्ञान पक्ष गहें कहें आतमा अबन्ध सदा,
बरते सुछन्द तेउ बूड़े हैं चहल में ॥
जथा योग्य करम करें पै ममता न धरें,
रहें सावधान ज्ञान ध्यान की टहल में।
तेई भव सागर के ऊपर ह्वै तरें जीव,
जिन्हें को निवास स्याद्वाद के महल में ॥१२॥

मन्दाक्रांता

भेदोन्मादं भ्रम-रसभराञ्चाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मी ल्परमकलया सार्द्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥१३॥

निश्चय ही जिसका परिणमन अतीन्द्रिय सुख के प्रवाह से हुआ है और जिसने मिथ्यात्व अंधकार को दूर किया है ऐसा शुद्ध स्वरूप प्रकाश अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य से तथा अपने सहज स्वरूप मे (उपरोक्त सम्यक्दृष्टि जीव के) प्रगट होता है। जैसा कहाहै—अनेक प्रकार भावरूप या द्रव्यरूप क्रिया, चाहे पापरूप हों अथवा पुण्यरूप (उसके) बरजोरी से होती हैं और (वह जानता है कि) ये जितनी भी क्रियाएं हैं कोई मोक्षमार्ग नहीं हैं अतः उन क्रियाओं में ममत्व का त्याग करता है। इस तरह शुद्धज्ञान ही मोक्षमार्ग है यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ। जैसे कोई धतूरा पीकर मतवाला हो जाता है उसी प्रकार (मिथ्यादृष्टि जीव) शुभ क्रिया मोक्षमार्ग है ऐसे पक्षपात मे मतवाला हुआ विपरीत मान्यता को धारण कर पुण्य कर्म को भला मानता है। इस धोखे के नशे के ज्यादा चढ़ जाने से नाचता है।

भावार्थ—जैसे कोई धतूरा पीकर बेसुध होकर नाचता है वैसे ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से शुद्ध स्वरूप के अनुभव की सुध नहीं रहती। शुभ कर्म के उदय से जो देव आदिक पदवी मिलती है उन्हीं से सुख मान रहा है

कि मैं देवता हूं, मेरे ऐसी विभूति है, कैसा मेरे पुण्य का उदय है, ऐसा मान कर बारम्बार रंजायमान हो रहा है ॥१३॥

सवैया—जैसे मतवारो कोउ कहे और करे और,
तैसे मूढ़ प्राणी विपरीतता धरत है।
अशुभ करम बंध कारण बखाने माने,
मुकति के हेतु शुभ रीति आचरत है॥
अन्तर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई,
ज्ञान को उद्योत भ्रम तिमिर हरत है।
करणी सों भिन्न रहे आतम स्वरूप गहे,
अनुभौ आरंभि रस कौतुक करत है ॥१३॥

॥ इति चतुर्थोध्याय ॥

पंचम अध्याय

आस्रव-अधिकार

द्रुतविलंबित

अथमहामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवं ।

अयमुदारगभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥१॥

यहां से [आगे] यह कथन करेंगे कि शुद्ध स्वरूप अनुभव रूपी योद्धा, रागादि परिणाम लक्षण वाले आस्रव को मिटाना है।

भावार्थ—यहां से लेकर आस्रव का स्वरूप कहेंगे॥ एक ओर से शाश्वत अनन्त शक्तिसे युक्त [निज] स्वरूप, और दूसरी ओर से आस्रव (जिसके आधीन होने से समस्त संसारी जीवराशि गर्व-अभिमान में मग्न होकर मतवाली है), संग्राम भूमि में सन्मुख आए हैं। भावार्थ—जैसे प्रकाश और अन्धकार परस्पर विरुद्ध हैं वैसे ही शुद्ध ज्ञान और आस्रव विरुद्ध है॥१॥

सवैया—जेते जगवासी जीव थावर जंगम रूप,

तेते निज बस करि राखे बल तोरि के।
महा अभिमानी ऐसो आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रणथम्भ ठाड़ो भयो मूछ मोरि के॥
आयो तिहि थानक अचानक परम धाम,
ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरि के।
आस्रव पछार्यो रणथम्भ तोड़ि डार्यो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरि के॥१॥

शालिनी

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो,

जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।

रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥१॥

जिस जीव के काललब्धि पाकर सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ और जिसके शुद्ध ज्ञान चेतना मात्र का कारण पाकर शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप परिणाम हुए वह जीव, असंख्यात लोक मात्र जितने भी अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष-मोह आदि जीव के विभाव परिणाम हैं उनका, तथा उनके निमित्त से उपजे सब ज्ञानवरणादि पुद्गल कर्मों का, मूलोन्मूल विनाश कर देता है।

भावार्थ—जिस काल शुद्ध चैतन्य वस्तु की प्राप्ति होती है उस काल मिथ्यात्व-राग-द्वेष रूप जीव के विभाव परिणाम मिटते है। यह एक ही समय में होता है। इसमें समय का अन्तर नहीं है। शुद्धभाव शुद्धचेतनमात्र भाव है और रागादि परिणाम से रहित है। द्रव्यकर्म अर्थात् ज्ञानवरणादि कर्म पर्यायरूप पुद्गल पिण्ड का समूह धाराप्रवाहरूप से परिणमित होकर समय-समय आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। भावार्थ—जो कर्म-वर्गणा ज्ञानावरणादिरूप परिणमन करता है उसके असंख्यात लोक मात्र भेद हैं। सम्यक्त्व गुण प्रकट होकर समस्त कर्म-जो धारा प्रवाह रूप आ रहे हैं—उनको रोक देता है। भावार्थ— अगर कोई ऐसा माने कि जीव के शुद्ध भाव होने से रागादि अशुद्ध परिणाम मिटते हैं परन्तु आस्रव जैसे होता था वैसे ही होता है— सो ऐसा तो नहीं है। जैसे कहा है वैसा है। जीव के शुद्धभावरूप परिणमन से अवश्य ही अशुद्ध भाव मिटते हैं, अशुद्ध भाव के मिटने से अवश्य ही द्रव्यकर्मरूप आस्रव मिटते हैं—इसलिए शुद्धभाव उपादेय हैं, अन्य समस्त विकल्प हेय हैं ॥२॥

सवैया—दर्वित आस्रव सो कहिए जंहि,
पुद्गल जीव प्रदेश गरासै।
भावित आस्रव सो कहिए जंहि,
राग विमोह विरोध विकासै॥

सम्यक् पद्धति सो कहिए जंहि,
दर्वित भावित आस्रव नासै।
ज्ञानकला प्रगटे तिंहि थानक,
अन्तर बाहिर और न भासै॥२॥

उपजाति

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो, द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो, निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥३॥

द्रव्यरूप ऐसा है—कि जो ज्ञानी जीव अर्थात् सम्यक्दृष्टि जीव रागादि अशुद्ध परिणाम से रहित है, शुद्धस्वरूप जिसका परिणमन है, जो स्वद्रव्यस्वरूप और परद्रव्यस्वरूप समस्त ज्ञेय वस्तुओं को जानने में समर्थ है, जो सर्व काल अर्थात् हर समय धाराप्रवाहरूप चेतनरूप एक भाव में परिणमन कर रहा है, वह सम्यक्दृष्टि जीव आश्रव से रहित है। अब सम्यक्दृष्टि जीव निराश्रव कैसे सिद्ध होता है, यह कहेंगे। [वह सम्यक्दृष्टि जीव] मिथ्यात्व राग-द्वेषरूप अशुद्ध चेतना परिणामों के विनाश को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—अनन्त काल से लेकर जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप परिणमन कर रहा था उसी का नाम आस्रव है। वह तो काललब्धि पाकर वह जीव सम्यक्त्व पर्यायरूप परिणमा, शुद्धतारूप परिणमा, उसके अशुद्ध परिणाम मिटे, और इस प्रकार भावास्रव से रहित हुआ। जो ज्ञानावरणादि कर्म पर्यायरूप से जीव के प्रदेशों में बैठे हैं, उन पुद्गल पिंडों से यह जीव स्वभाव ही से भिन्न है और सब काल में निराला ही है। भावार्थ—आस्रव दो प्रकार का है—एक द्रव्यास्रव और एक भावास्रव। आत्मा के प्रदेशों में जो पुद्गलपिंड कर्मरूप बैठे हैं उनको द्रव्यास्रव कहते हैं। यह जीव स्वभाव ही से इन द्रव्यास्रवों से रहित है। इससे यद्यपि जीव के प्रदेश और पुद्गलपिंड के प्रदेश एक ही क्षेत्र में रहते हैं तथापि वे दोनों वस्तुतः—स्व-सत्ता और गुण-स्वभाव में रहने से एक द्रव्यरूप नहीं होते हैं। अपने-अपने द्रव्य गुण पर्यायरूप ही रहते हैं। पुद्गल पिंडों से जीव भिन्न है। भावास्रव अर्थात् मोह-राग-द्वेष रूप विभाव-अशुद्ध चेतन परिणाम यद्यपि जीव की मिथ्यादृष्टि अवस्था में ऐसे ही होते हैं तथापि सम्यक्त्व रूप परिणमन से अशुद्ध परिणाम मिट जाते हैं। इसलिए सम्यक्दृष्टि जीव भावास्रव से रहित है। इससे ऐसा अर्थ निकला कि सम्यक्दृष्टि जीव निरास्रव है ॥३॥

चौपाई—जो द्रव्यास्रव रूप न होई। जहँ भावास्रव भाव न कोई ॥
जाकी दशा ज्ञानमय लहिए। सो ज्ञातार निरास्रव कहिए ॥३॥

शार्दूलविक्रीडित

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥४॥

जब किसी जीव का अनंतकाल से हो रहा विभाव (मिथ्यात्व भाव) रूप परिणमन निकट सामग्री पाकर छूट जाए तब वह स्वभाव (सम्यक्त्व) रूप परिणमता है। ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव समस्त आगामी काल में सर्वथा, सर्वकाल आस्रव से रहित होता है।

भावार्थ—यदि कोई संदेह करे कि सम्यक्दृष्टि जीव आस्रव सहित है या आस्रव से रहित है? उसका यह समाधान है कि आस्रव से रहित है। वह ऐसे—कि अपने मन के आलम्बन से जितने भी असंख्यात लोकमात्र भेद-रूप मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणाम हैं अथवा परद्रव्य से रंजित परिणाम हैं, उन सबको सम्यक्त्व की उत्पत्ति से लेकर आगामी सब काल में सहज ही छोड़ता है। भावार्थ—नाना प्रकार के कर्मों के उदय से नाना प्रकार की संसार शरीर भोग सामग्री होती है। सम्यक्दृष्टि जीव ऐसी समस्त सामग्री को भोगते हुए भी मैं देव हूं, मैं मनुष्य हूं, मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, इत्यादि रूप से आनन्दित नहीं होता। जानता है कि मैं चेतनमात्र शुद्ध स्वरूप हूं। यह सब कर्म की रचना है। ऐसे अनुभव से मन का व्यापार रूप राग मिट जाता है॥ मन के आलम्बन के बिना भी मोह कर्म के उदय का निमित्त कारण पाकर जीव के प्रदेश, जो अशुद्धतारूप परिणमन कर रहे हैं, सम्यक्दृष्टि जीव, उनको भी जीतने के निमित्त अखण्डित धारा प्रवाहरूप शुद्ध चैतन्य वस्तु को स्वानुभव प्रत्यक्षपने से आस्वादता है। भावार्थ—मिथ्यात्व-राग-द्वेष रूप जो जीव के अशुद्ध चेतनारूप विभाव परिणाम हैं वे दो प्रकार के हैं—एक परि-णाम बुद्धिपूर्वक हैं और एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक हैं। विवरण—बुद्धिपूर्वक परिणाम उनको कहते हैं जो मन के द्वार से प्रवर्त्तन करते हैं, बाहरी विषयों के आधार से प्रवर्त्तन करते हैं और प्रवर्त्तन होते हुए जीव स्वयं भी जानता है कि हमारे परिणाम इस रूप हैं। तथा अन्य जीव भी अनुमान से जानते हैं कि उस जीव के ऐसे परिणाम हैं। ऐसे परिणामों को बुद्धिपूर्वक परिणाम

कहते हैं। ऐसे परिणाम जीव की जानकारी में हैं और उनको सम्यक्दृष्टि जीव मिटा सकता है। क्योंकि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से उसमें ऐसा करने की सामर्थ्य है। अबुद्धिपूर्वक परिणाम उनको कहते हैं जो पांच इन्द्रियों तथा मन के व्यापार बिना ही, मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर, मोह-राग-द्वेष रूप अशुद्ध विभाव परिणाम रूप स्वयं ही जीवद्रव्य के असंख्यात प्रदेशों में परिणमते हैं। ऐसा परिणमन जीव की जानकारी में नहीं और जीव की सामर्थ्य में भी नहीं इसलिए जैसे-तैसे मिटाया नहीं जा सकता। तब ऐसे परिणाम मेटने के लिए निरंतर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने से वे सहज ही मिट जाते हैं। और तो कोई उपाय हो नहीं है, मात्र एक शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही उपाय है। और क्या करने से निरास्रव होता है? शुभरूप अथवा अशुभरूप जितनी भी ज्ञेय पदार्थों में रंजायमान होने की परिणाम क्रियाएं हैं उनको मूल से उखाड़ता हुआ सम्यक्दृष्टि (जीव) निरास्रव होता है। भावार्थ—ज्ञेय और ज्ञायक का संबंध दो प्रकार का है। एक तो जानना मात्र है और रागद्वेषरूप नहीं है—जैसे केवली सकल ज्ञेय वस्तुओं को देखते और जानते हैं परन्तु किसी वस्तु में राग-द्वेष नहीं करते हैं। उसका नाम शुद्ध ज्ञान चेतना कहा। सम्यक्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञान चेतनारूप जानपना है इसलिए मोक्ष का कारण है, बन्ध का कारण नहीं है। दूसरा जानना ऐसा है कि कितनी ही विषय वस्तुओं को जान रहा है और मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर इष्ट वस्तुओं में राग कर रहा है, उनके भोग की अभिलाषा कर रहा है, तथा अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष करता है, अरुचि करता है, सो ऐसा जो रागद्वेष से मिला हुआ ज्ञान है उसका नाम अशुद्धचेतना लक्षणावाली कर्म चेतना अथवा कर्मफल चेतनारूप कहा है और इसीलिए वह बन्ध का कारण है। ऐसा परिणमन सम्यक्दृष्टि का नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्वरूप परिणाम के चले जाने पर ऐसा परिणमन नहीं होता है। ऐसे अशुद्ध ज्ञान चेतनारूप परिणाम मिथ्यादृष्टि के होते हैं॥ और कैसे निरास्रव होता है? पूर्णज्ञानरूप होता हुआ निरास्रव होता है। भावार्थ—राग-द्वेष से मिला हुआ ज्ञान खंडित ज्ञान है। रागद्वेष के चले जाने पर ज्ञान का पूर्ण होना कहा है। ऐसा होता हुआ सम्यक्दृष्टि जीव निरास्रव होता है ॥४॥

सवैया—जेते मन गोचर प्रगट बुद्धि पूरवक,
तिन परिणामन की ममता हरतु हैं।

मनसों अगोचर अबुद्धि पूरवक भाव,
तिनके विनासवे को उद्यम धरतु हैं ॥
याही भांति पर-परणति को पतन करें,
मोक्ष को जतन करें भौजल तरतु हैं।
ऐसे ज्ञानवंत ते निरास्रव कहावें सदा,
जिन्हें को सुजस सुविचक्षण करत हैं ॥४॥

अनुष्टुप्

सर्वस्यामेवजीवन्त्यां, द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥५॥

कोई आशंका करता है कि सम्यक्दृष्टि जीव को सर्वथा निरास्रव कहा और है भी यही। परन्तु ज्ञानावरणादि द्रव्यपिण्ड जैसे थे वैसे के वैसे ही हैं ; तथा उन कर्मों के उदय से जो भोग सामग्री प्राप्त थी वह भी सब वैसी की वैसी ही है ; तथा उन कर्मों के उदय में नाना प्रकार के सुख-दुःख भी भोगता है ; इन्द्रियों और शरीर सम्बन्धी सामग्री जैसी थी वैसी ही है और सम्यक्दृष्टि जीव उस सामग्री को भोग रहा है। इतना सब रहने पर भी निरास्रवपना कैसे घटित होता है ? यह प्रश्न उठाया गया है। जीव के प्रदेशों में ही पुद्गल पिण्डरूप अनेक प्रकार के मोहनीय कर्म परिणमते हैं और बहुत काल तक जीव के प्रदेशों में स्थित रहते हैं। आत्मा जो भी थी जैसी भी थी, वैसी ही है। फिर भी निश्चयपूर्वक कहा है कि सम्यक्दृष्टि जीव सर्वथा, सर्व काल आस्रव से रहित है—ऐसा किस विचार से कहा ? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! यदि तेरे मन में ऐसी शंका उपजी है तो उसका उत्तर सुन कहते हैं ॥५॥

सवैया—ज्यों जग में विचरे मतिमंद, स्वच्छन्द सदा बरतै बुध तैसे।
चंचल चित्त असंजम बैन, शरीर सनेह यथावत जैसे ॥
भोग-संयोग परिग्रह-संग्रह, मोह विलास करे जहां ऐसे।
पूछत शिष्य आचारज को यह, सम्यक्वन्त निरास्रव कैसे ॥५॥

मालिनी

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः,
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥६॥

सम्यक्दृष्टि जीव के, किसी भी नय से, ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्ड का नूतन आगमन, कर्मरूप परिणमन नहीं होता अथवा जो कभी सूक्ष्म, अबुद्धि-पूर्वक रागद्वेष परिणाम से बन्ध होता भी है तो वह बहुत ही अल्पबन्ध होता है। तो भी वह इतना अल्प होता है कि उसे सम्यक्दृष्टि जीव के बंध होता है ऐसा कोई त्रिकाल में भी नहीं कह सकता। जितने भी शुभरूप अथवा अशुभरूप प्रीतिरूप परिणाम, दुष्टरूप परिणाम, अथवा पुद्गलद्रव्य की विचित्रताओं (नाना प्रकार के रूपों व अवस्थाओं) में आत्मबुद्धि का जो विपरीत परिणाम है उनसे जो रहितपना है उसके कारण सम्यक्दृष्टि जीव के बन्ध घटित नहीं होता। सारी सामग्री होते हुए भी सम्यक्दृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है। सारी सामग्री इसलिए है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले जीव मिथ्यादृष्टि था उससे जो मिथ्यात्वरूप तथा चारित्रमोहरूप पुद्गलकर्मपिण्ड, रागद्वेष आदि मिथ्या परिणामों के कारण बंधा था वह सत्ता-स्थिति-बंधरूप जीव के प्रदेशों में वैसा ही पड़ा है; उसने अपना अस्तित्व नहीं छोड़ा और उदय में भी आता है। समय-समय पर अखंडित धारा प्रवाह रूप वह पूर्व का बंधा कर्म उदय में आकर नाना सामग्री प्रस्तुत करता रहता है तो भी सम्यक्दृष्टि जीव कर्मबन्ध का कर्त्ता नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि अनादिकाल के मिथ्यादृष्टि जीव ने काललब्धि पाकर सम्यक्त्व गुणरूप परिणमन किया परन्तु चारित्रमोहकर्म की सत्ता तो अभी वैसी ही है और उदय भी वैसा ही है। उसके पंचेन्द्रियों के विषयों के संस्कार भी वैसे ही है और उनको भोगता भी है। ज्ञानगुणयुक्त होने से भोगते हुए उनका वेदन भी करता है तो भी, जैसे मिथ्यादृष्टि जीव आत्म-स्वरूप को नहीं जानता है और कर्म के उदय को ही अपना जानता है तथा इष्ट या अनिष्ट सामग्री को भोगता हुआ उनमें राग-द्वेष करता है, वैसा सम्यक्दृष्टि जीव नहीं है। सम्यक्दृष्टि जीव आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है। शरीरादि समस्त सामग्री को कर्म का उदय जानता है। उदय में आया तो उसको भोगता व बरतता है परन्तु अंतरंग में परम-उदासीन है। इसलिए सम्यक्दृष्टि जीव के कर्मबन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था सम्यक्दृष्टि जीव की सर्वकाल नहीं रहती। तब तक ही रहती है जब तक वह सकल कर्मों का क्षय करके निर्वाण पदवी को नहीं पा लेता।

जब निर्वाण पदवी को पा लेता है उस समय का क्या कहना—तब तो वह साक्षात् परमात्मा है ॥६॥

सवैया—पूरब अवस्था जे करमबन्ध कीने अब,
तेई उदय आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई शुभ साता केई अशुभ असातारूप,
दुहूं में न राग न विरोध समचेत हैं॥
यथायोग्य क्रिया करें फल की न इच्छा धरें,
जीवन - मुकति को विरद गहि लेत हैं।
यातें ज्ञानवन्त को न आस्रव कहत कोउ,
मुद्धता सों न्यारे भये शुद्धता समेत हैं॥६॥

अनुष्टुप्

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणं ॥७॥

ऐसा कहना कि- सम्यग्दृष्टि जीव के बन्ध होता है ऐसी प्रतीति क्यों होती है, इसका और विवरण देते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव में राग अर्थात् रंजायमान होने का परिणाम, द्वेष अर्थात् उद्वेग अथवा मोह अर्थात् विपरीतपना ऐसे जो अशुद्ध भाव हैं वे विद्यमान नहीं हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय से रंजायमान नहीं होता, इसलिए उसके रागादिक नही हैं। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का बन्ध नहीं है निश्चय से ऐसा ही द्रव्य का स्वरूप है। इस प्रकार राग-द्वेष-मोह ऐसे जो अशुद्ध परिणाम है वे ही बंध के कारण हैं। भावार्थ- यदि कोई अज्ञानी जीव ऐसा माने कि सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्रमोह का उदय होने उस उदय मात्र के होने से आगामी ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध भी होता होगा तो उसका समाधान यह है कि—चारित्रमोह के उदय मात्र से बंध नहीं होता। उदय होने पर जो राग-द्वेष-मोह परिणाम हों तो बन्ध होता है अन्यथा और कारण हजारों भी हों तो भी कर्मबन्ध नहीं होता। और दूसरी ओर राग-द्वेष-मोह परिणाम मिथ्यात्व कर्म के उदय की शक्ति से होते हैं। मिथ्यात्व के जाने पर अकेले चारित्रमोह के उदय की शक्ति नहीं कि वह राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करवा दे। इस प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोह परिणाम नहीं होते और इस-

लिए कर्मबन्ध का कर्त्ता सम्यक्दृष्टि जीव नहीं होता ॥७॥

दोहा—जो हित भावसु राग है, अहित भाव विरोध।
भ्रमभाव विरोध है, निर्मल भाव सुबोध ॥
राग विरोध विमोह मल, येई आश्रव मूल।
येई कर्म बढ़ाइके, करे धर्म की भूल ॥
जहां न रागादिक दशा, सो सम्यक् परिणाम।
याते सम्यक्वन्त को, कह्यो निरास्रव नाम ॥७॥

वसंततिलका।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारं ॥८॥

जो कोई निकट भव्य जीव समस्त रागादि विकल्पों से चित्त निरोध करके और निश्चय मान कर उस निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य वस्तु मात्र का सदा काल धारा प्रवाह रूप से अभ्यास करता है कि जिसका लक्षण है कि उसमें ज्ञानगुण सर्वकाल प्रगट है। वह जीव निश्चय से सकल कर्मों से रहित अनंत चतुष्टय से युक्त परमात्म-पद को प्रकट ही प्राप्त करता है। वह परमात्म-पद अनादिकाल से एक बंध-पर्यायरूप चले आये ज्ञानावरणादिकर्मरूप पुद्गल पिण्डों से सर्वथा रहित है।

भावार्थ—जो सकल कर्मों का क्षय करके शुद्ध हुआ है उस शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता हुआ वह जीव ऐसा है कि जिसका परिणाम राग-द्वेष-मोह से रहित है और वह निरन्तर ऐसा ही है। भावार्थ—यदि कोई कहे कि हर समय ऐसा हो जाता होगा जैसा ऊपर वर्णन किया है। सो यह बात नहीं है, वह तो सदा, सभी समय में शुद्धरूप रहता है ॥८॥

सवैया—जे कोई निकट भव्यराशी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ज्ञान-भाव परिणये हैं।
जिन्ह के सुदृष्टि में न राग-द्वेष-मोह कहूं,
विमल विलोकनि में तीनों जीति लये हैं ॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोध जोग,
शुद्ध उपयोग की दशा में मिलि गये हैं।

तेई बन्ध पद्धति विडारि पर संग धारि,
आप में मगन ह्वै के आपरूप भये हैं ॥८॥

वसंततिलका

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥९॥

जो कोई उपशम सम्यग्दृष्टि अथवा वेदकसम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध-चैतन्य स्वरूप के अनुभव से भ्रष्ट हुआ है अर्थात् जिसका शुद्ध स्वरूप का अनुभव छूट गया है उसके राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम हो जाते हैं और वह ज्ञानावरणादि कर्मरूपपुद्गल के पिंडों का नया उपार्जन करता है।

भावार्थ—जब तक सम्यक्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के परिणामों से युक्त रहता है तब तक उसके राग-द्वेष-मोह आदि अशुद्ध परिणामों के न होने से ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध नहीं होते। पीछे यदि सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के परिणामों से भ्रष्ट होता है तो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणामों के होने से ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध होते हैं, क्योंकि मिथ्यात्व का परिणाम अशुद्धरूप है॥ वह कर्मबन्ध उन नाना प्रकार के राग-द्वेष-मोह परिणामों का समूह है जो सम्यक्त्व उपजने से पूर्व मिथ्यात्व राग-द्वेष परिणामों से बंधे पुद्गल पिंडरूप मिथ्यात्वकर्म तथा चारित्रमोह कर्मों के कारण हुए हैं। भावार्थ—जितने समय तक जीव ने सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन किया उतने समय चारित्रमोह कर्म कीले हुए सांप की तरह अपना कार्य करने में समर्थ नहीं था। वही जीव जब सम्यक्त्व के भाव से भ्रष्ट हुआ और मिथ्यात्व भावरूप परिणमा तो उस समय चारित्रमोह कर्म अकीले हुए सांप की भांति अपना कार्य करने में समर्थ हो गया। अर्थात् चारित्रमोह का कार्य जीव के अशुद्ध परिणमन में निमित्त होना है, उसमें वह समर्थ हो गया। मिथ्यादृष्टि जीव के तो सभी चारित्र मोह कर्म से बन्ध होगा ही। परन्तु जब जीव सम्यक्त्व पाता है तब जो चारित्रमोह के उदय से बन्ध होता है उस समय बन्ध शक्तिहीन होने के कारण वह बन्ध नहीं कहाता। इसलिए ऊपर सम्यक्त्व के समय चारित्रमोह को कीले हुए सांप की भांति बताया है। और मिथ्यात्व

के समय चारित्रमोह को अकीलै सांप की भांति बताया। उपरोक्त कथन का ऐसा भावार्थ समझ लेना चाहिए ॥९॥

सवैया—जेते जीव पंडित क्षयोपशमी उपशमी,
इनकी व्यवस्था ज्यों लुहार की संडासी है।
खिण आगिमांहि खिण पाणिमांहि तैसे येउ,
खिण में मिथ्यात खिण ज्ञानकला भासी है॥
जो लों ज्ञान रहे तोलों सिथल चरणमोह,
जैसे कीले नाग की सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करे,
जेउ कीले नाग की सकति परगासी है॥९॥

अनुष्टुप

इदमेवात्र तात्पर्य्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि॥१०॥

इस समस्त अधिकार का निश्चय से इतना ही (बताना) कार्य है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुभव को सूक्ष्मकाल मात्र के लिए भी बिसारना योग्य नहीं है क्योंकि शुद्धस्वरूप का अनुभव छूटे बिना ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध नहीं होता। शुद्ध स्वरूप का अनुभव छूटने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध है। भावार्थ स्पष्ट है ॥१०॥

दोहा—यह निचोर या ग्रंथ को, यहै परम रस पोख।
तजे शुद्धनय बंध है, गहे शुद्धनय मोख॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिम्।
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्॥
तत्रास्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः।
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः॥११॥

सम्यक्दृष्टि जीव को उस शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु के अनुभव को सूक्ष्म कालमात्र के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहिए जो आत्मस्वरूप में अतीन्द्रिय सुख स्वरूप परिणति का परिणमन करवाता है। शाश्वतरूप से धाराप्रवाहरूप परिणमनशील होना जिसकी महिमा है, जिसका न आदि है और

न अंत है और जो ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मपिंड अथवा राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणामों का जड़ से क्षय करने वाला है। शुद्ध स्वरूप के अनुभव में जो जीव मग्न हैं वे कर्म की सामग्री, इन्द्रिय, शरीरादि में आत्मबुद्धि के झूठे भ्रम का तत्कालमात्र विनाश करके सर्व उपाधि से रहित उस चैतन्यद्रव्य अर्थात् परमात्मपद को प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होते हैं जिसके असंख्यात प्रदेशों में ज्ञान विराजमान है, जो चेतनगुण का पुंज है, समस्त विकल्पों से रहित निर्विकल्प वस्तु मात्र है और जो कर्म के संयोग को मिटा कर निश्चल हुआ है।

भावार्थ—परमात्मपद की प्राप्ति होने पर समस्त विकल्प मिट जाते हैं ॥११॥

सवैया—करम के चक्र में फिरत जगवासी जीव,
हूं रह्यो बहिरमुख व्यापत विषमता।
अन्तर सुमति आई बिमल बड़ाई पाई,
पुद्गल सों प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
शुद्ध नै निवास कीनों अनुभौ अभ्यास लीनो,
भ्रमभाव छाँड़ि दीनों, भीनो चित्त समता।
अनादि अनन्त अविकलप अचल ऐसो,
पद अविलम्बि अवलोके राम रमता ॥११॥

मन्दाक्रांता

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२॥

जिस जीव का शुद्ध चैतन्य प्रकाश प्रगट हुआ है वह निर्विकल्प सत्ता-मात्र जो कुछ वस्तु है उसका भावश्रुतज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षरूप से अवलंबन करता है।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप के अनुभव के समय जीव काठ की भांति जड़ तो नहीं हो जाता परन्तु सामान्यरूप से सविकल्पी जीव की भांति विकल्पी भी नहीं होता। भावश्रुतज्ञान के द्वारा कुछ निर्विकल्प वस्तु मात्र अवलंबता

(धारण करना) है। उस अवलम्बन को वचन द्वार के द्वारा कहने में समर्थ नहीं है इसलिए कह नहीं सकता। उस शुद्ध ज्ञान प्रकाश का प्रकाश अविनाशी है, उसने राग-द्वेष-मोह आदि जितने भी असंख्यातलोक मात्र अशुद्ध परिणाम हैं जिनकी सब प्रकार आस्रव नाम संज्ञा है, उनका तत्काल विनाश किया है। भावार्थ—जीव के अशुद्ध रागादि परिणाम पर ही सच्चा आस्रवपना घटित होता है जिनका निमित्त पाकर कर्मरूप आस्रव होता है। पुद्गल की वर्गणायें तो अशुद्ध परिणाम के आधीन हैं इसलिए उनकी क्या बात रही। वह तो परिणाम शुद्ध होने हो मिट जाती है॥ शुद्धज्ञान तो अपने चिद्रूप गुण के द्वारा जितनी भी अतीत-अनागत-वर्तमान पर्याय सहित ज्ञेय वस्तुएं हैं उन सबको अपने में प्रतिबिम्बित करता है। उसकी अनन्त शक्ति अनन्त ज्ञेय पदार्थों में भी अनन्तानन्तगुण है। भावार्थ—द्रव्य अनन्त हैं। उनसे उनकी पर्यायें अनन्तगुणी हैं। उन समस्त ज्ञेय मे ज्ञान की शक्ति अनन्तगुणी है। ऐसा द्रव्य का स्वभाव है। सकल कर्मों के क्षय होने पर शुद्ध ज्ञान जैसा उपजा वैसा ही अनन्तकाल तक रहता है अन्यरूप नहीं होता। उस शुद्ध ज्ञान के सुखरूप परिणमन करने का त्रिलोक में कोई दृष्टान्त नहीं है। ऐसा शुद्ध ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ ॥१२॥

सवैया—जाके परकाश में न दीसे राग-द्वेष-मोह,
आस्रव मिटत नहिं बंध को दरस है।
तिहुं काल जामें प्रतिबिम्बित अनन्तरूप,
आपहुं अनन्त सत्ताऽनन्त तें सरस है॥
भावश्रुतज्ञान परमार्थ जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करे न जहां वाणी को परस है।
अतुल अखण्ड अविचल अविनाशी धाम,
चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक् दरस है॥१२॥

॥ इति पंचमो अध्याय: ॥

षष्ठम अध्याय

संवर-अधिकार

शार्दूलविक्रीडित

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं सम्पादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ।।१।।

पिछले अधिकार में कहा है कि सम्यक्त्व से वह (ज्ञान) प्रकाश स्वरूप वस्तु प्रकट होती है जिसका स्वरूप चेतना है, जो सर्व काल प्रकट है। कर्मों के कलंक से रहित है, निज चेतनगुण का समूह है। (ज्ञेय वस्तुओं को जानते हुए भी) जिसका ज्ञेयाकार में परिणमन नहीं होता, जीव के शुद्ध स्वरूप में जैसा है वैसी ही प्रगाढ़ रूप से स्थापित है और जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों के धाराप्रवाहरूप आस्रव को रोक दिया है।

भावार्थ—अब यहाँ से आगे संवर का स्वरूप कहेंगे। मुझसे बड़ा तीनों लोकों में कोई नहीं है, ऐसा जिसको गर्व हुआ है उस आस्रव अर्थात् धाराप्रवाहरूप कर्मों के आगमन के मान को भंग करके, अपने अनन्तकाल के बैरी आस्रव पर, बंध जाने वाले कर्मों का निरोध करके, संवर ने चिरस्थायी विजय पाई है। भावार्थ—आस्रव और संवर हर स्थिति में अत्यन्त बैरी हैं। अनन्तकाल से समस्त जीव राशि विभाव-मिथ्यात्वरूपपरिणमन कर रही है इसलिए उसे शुद्ध ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलता और आस्रव के आधीन सब जीव हैं। काललब्धि को पाकर कोई निकटभव्य-जीव सम्यक्त्वरूप स्वभाव परिणति में परिणमन करता है, जिससे शुद्ध प्रकाश प्रकट होता है और उससे कर्मों का आस्रव मिटता है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान का विजयी होना सिद्ध होता है ।।१।।

सवैया—आतम को अहित अध्यातम रहित ऐसो,
आस्रव महातम अखण्ड अण्डवत है।
ताको विसतार गिलिवे को परगट भयो,
ब्रह्मण्ड को विकास ब्रह्मण्डमण्डवत है॥
जामें सब रूप जो सब में सब रूपसों पै,
सबनिसों अलिप्त आकाश खण्डवत है।
सोहे ज्ञानभान शुद्ध संवर को भेष धरे,
ताकी रुचि रेख को हमारो दंडवत है॥१॥

शार्दूलविक्रीड़ित

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२॥

इस प्रकार राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति से रहित, शुद्ध स्वरूप के ग्राहक ज्ञान के समूह का पुंज, समस्त भेद विकल्प से रहित, भेदज्ञान अर्थात् जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव प्रकट होता है। ज्ञानगुण मात्र तथा अशुद्ध परिणति इन दोनों के एक दूसरे से भिन्नपने (के अनुभव) से भेदज्ञान प्रकट होता है। अन्तरंग की सूक्ष्म अनुभवदृष्टि के द्वारा (जीव) जीव के चैतन्य मात्र स्वरूप को तथा अशुद्धपने के जड़त्व स्वरूप को अलग-अलग कर देता है।

भावार्थ—शुद्ध ज्ञान मात्र तथा रागादि के अशुद्धपना इन दोनों का भिन्न-भिन्न अनुभव करना अति सूक्ष्म है क्योंकि रागादि अशुद्धपना भी चेतन-सा दिखाई देता है। इसलिए जैसे पानी यद्यपि मिट्टी से मिल कर मैला हुआ है तो भी अति सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, स्वरूप का अनुभव करे तो जितना स्वच्छ है उतना ही पानी है और जितना मैल है उतनी मिट्टी की उपाधि है। उसी प्रकार रागादि परिणामों के कारण ज्ञान अशुद्ध जैसा दीखता है तो भी जितना ज्ञानपना है उतना ही ज्ञान है, रागादि अशुद्धपना उपाधि है। इसलिए, हे सम्यक्दृष्टि जीव ! शुद्ध ज्ञानानुभव का आस्वादन कर। शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही जिसका जीवन है और जो किसी हेय वस्तु का अवलंबन नहीं लेता वही सत पुरुष है ॥२॥

सवैया—शुद्ध अछेद अभेद अबाधित, भेद विज्ञान सुतीछन आरा।
अंतर भेद स्वभाव विभाव, करे जड़ चेतन रूप दुफारा ॥
सो जिन्ह के उर में उपज्यो, न रुचे तिनको पर संग सहारा।
आतम को अनुभौ करि ते, हरखे परखे परमातम धारा ॥२॥

मालिनी

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥३॥

अशुद्धपने का विनाश करके, शुद्ध (स्वरूप) की प्राप्ति होने पर, समस्त द्रव्यकर्मों और भावकर्मों से रहित आत्मा प्रत्यक्षरूप से अपने स्वरूप की प्राप्ति करता है और अपने स्वद्रव्य में निवास पाता है। चेतन द्रव्य काललब्धि पाकर सम्यक्त्व पर्यायरूप परिणमन करता है तथा द्रव्यकर्म व भावकर्म से रहित होकर भावश्रुत ज्ञान के द्वारा अपने निज स्वरूप का आस्वादन करता हुआ धाराप्रवाह रूप से निरन्तर प्रवर्तता है। यह बात निश्चय है ॥३॥

भावार्थ—जो कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे।
सम्यक्धार प्रवाह बहे गुण, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावे ॥
तो अभ्यन्तर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण ह्वै परब्रह्म कहावे ॥

मालिनी

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४॥

जो जीव शुद्ध स्वरूप परिणमन में मग्न हैं उनको भेदविज्ञान अर्थात् उस अनुभव के द्वारा कि समस्त परद्रव्य से आत्मस्वरूप भिन्न है, सकल कर्म से रहित अनंतचतुष्टय में विराजमान आत्मा वस्तु की प्राप्ति होती है। शुद्ध

स्वरूप की प्राप्ति होने से द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का समूल विनाश होता है—ऐसा द्रव्य का स्वरूप अमिट है। आगामी अनन्तकाल तक फिर कर्म का बन्ध नहीं होता है। ऐसा जीव अपने जीवद्रव्य से भिन्न जितने भी द्रव्य हैं उन सबसे सब प्रकार भिन्न है ॥४॥

सवैया—भेदि मिथ्यात्व सु वेदि महारस,
भेदविज्ञान कला जिनि पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत,
त्याग करै उरसौं जो पराई॥
उद्धत रीत बसे जिनके घट,
होत निरंतर ज्योति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ण समान,
लगे तिनकौं न शुभाशुभ काई॥४॥

उपजाति

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥५॥

इसलिए समस्त पर द्रव्य से भिन्न चैतन्य स्वरूप को सर्वथा उपादेय मान कर अखण्डित व धाराप्रवाहरूप से अनुभव करना योग्य है। शुद्ध स्वरूप के अनुभव के द्वारा शुद्ध स्वरूप निश्चय ही प्रकट होता है और जीव की शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के द्वारा नूतन कर्मों के आगमन का निरोध अर्थात् सर्व प्रकार संवर होता है। भेद विज्ञान यद्यपि विनाश होने वाला है तथापि उपादेय है ॥५॥

अडिल्ल—भेद ज्ञान संवर निदान निरदोष है,
संवर सों निरजरा अनुक्रम मोक्ष है।
भेद ज्ञान शिवमूल जगत महि मानिए,
जदपि हेय है तदपि उपादेय जानिए॥५॥

अनुष्टुप्

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥६॥

जब तक आत्मा शुद्ध स्वरूप में एकरूप से परिणमन न करने लगे

तब तक उस शुद्ध स्वरूप के अनुभव का अखण्डित व धाराप्रवाहरूप से आस्वादन करो, जिसका लक्षण ऊपर कह आये हैं।

भावार्थ—निरन्तर रूप से शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना कर्त्तव्य है। जब सकल कर्मों का क्षय जिसका लक्षण है ऐसा मोक्ष होता है, तब समस्त विकल्प सहज हो छूट जाते हैं। तब तो भेदविज्ञान भी एक विकल्परूप होगा, केवलज्ञान की भांति जीव का स्वरूप नहीं। और इसलिए सहज ही नाशवान है ॥६॥

दोहा—भेद ज्ञान तबलौं भलो, जबलौं भक्ति न होय।
परम ज्योति परगट जहां, तहां विकल्प न कोय ॥६॥

अनुष्टुप्

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥७॥

संसारी जीवराशि में जो कोई निकट भव्य जीव हैं और जो समस्त कर्मों का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त हुए, वे समस्त जीव सकल परद्रव्य से भिन्न शुद्ध स्वरूप के अनुभव (भेदविज्ञान) के द्वारा मोक्ष पद को प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—शुद्धस्वरूप का अनुभव ही अनादिकाल से सिद्ध एक मोक्षमार्ग है। जो कोई ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधे हैं, वे समस्त जीव, निश्चय से, ऐसा भेदविज्ञान बिना हुए, बंध को प्राप्त होकर संसार में रुलते हैं। भावार्थ—भेदविज्ञान सर्वथा उपादेय है ॥७॥

चौपाई—भेद ज्ञान संवर जिन्ह पायो, सो चेतन शिवरूप कहायो।
भेदज्ञान जिन्ह के घट नांही, ते जड़ जीव बन्धे घट मांही ॥७॥

मंदाक्रांत।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्म्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥८॥

प्रत्यक्षरूप से ऐसा ही है। (इस तरह) वह शुद्ध चैतन्य प्रकाश प्रगट हुआ है जो अनन्तकाल से अशुद्ध रागादि विभावरूप परिणमन कर रहा था

और काललब्धि पाकर अपने शुद्ध स्वरूप परिणमा है, जिसका अविनश्वर प्रकाश है, अतीन्द्रिय सुखरूप जिसका परिणमन है और जो उत्कृष्ट है, सब प्रकार सब काल में और सारे त्रैलोक्य में जो निर्मल है, साक्षात् शुद्ध है, सदा प्रकाशरूप है, निर्विकल्प है। शुद्ध ज्ञान ऐसा कैसे हुआ यह कहते हैं—वह जो पुद्‌गल कर्म का ज्ञानावरणादि रूप आस्रव हो रहा था उसका निरोध करके ऐसा हुआ। और वह निरोध कैसे हुआ? शुद्धस्वरूप ज्ञान के प्रगटपने के निरंतर अभ्यास से शुद्ध तत्त्व अर्थात् शुद्ध चैतन्य वस्तु की साक्षात् प्राप्ति के द्वारा हुआ। वह निरोध राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध विभाव परिणामों के असंख्यात लोकमात्र भेदों की सत्ता का मूल से नाश करना है। भावार्थ—शुद्ध स्वरूप का अनुभव उपादेय है ॥८॥

सवैया—जैसे रजसोधी, रज सोधि के दरब काढ़े,
पावक कनक काढ़े दाहत उपल को।
पंक के गरभ में ज्यों डारिये कनक फल,
नीर करे उज्वल नितारि डारे मल को॥
दधि को मथैया मथि काढ़े जैसे माखन को,
राजहंस जैसे दूध पीवे त्यागि जल को।
तैसे ज्ञानवन्त भेदज्ञान की सकति साधि,
वेदे निज संपति उछेदे पर दल को॥८॥

॥ इति षष्टम अध्याय ॥

सप्तम अध्याय

निर्जरा-अधिकार

शार्दूलविक्रीडित

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरान्धृत्वा परः संवरः
कर्म्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्ज्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१॥

अब इसके आगे निर्जरा अर्थात् पूर्व बन्धे हुए कर्म का अकर्मरूप परिणाम कैसे प्रगट होता है, यह कहेंगे।

भावार्थ - निर्जरा का स्वरूप जैसा है वैसा कहते हैं। सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणामों के कारण जो ज्ञानावरणादि कर्म बांधे थे उनको संवर पूर्वक निर्जरा जलाती है। निर्जरा वह है जिसका संवर अग्रसर है। भावार्थ—संवरपूर्वक होने वाली निर्जरा ही निर्जरा है। जो उदय देकर कर्म की निर्जरा सभी जीवों के होती है वह निर्जरा नहीं है॥ वह संवर रागादि आस्रव भावों का निरोध करके तथा अपने एक संवररूप पक्ष को ही धारण करता हुआ नाना प्रकार के जिन ज्ञानावरणादि, दर्शनावरणादि कर्मों का अपने मोह के वश अखण्ड धारा प्रवाहरूप पुद्गल का आस्रव हो रहा था, उनको आने नहीं देता। संवर पूर्वक निर्जरा से इसलिए काम होता है कि उसके होने पर जीव का शुद्ध स्वरूप निरावरण होता है और वह रागादि अशुद्ध परिणामों के द्वारा अपने स्वरूप को छोड़ कर रागादिरूप नहीं होता ॥१॥

दोहा—बरणी संवर की दशा, यथायुक्ति परमाण।
मुक्ति वितरणी निर्जरा, सुनो भविक धरि कान॥

जो संवर पद पाइ अनंदै, सो पूरबकृत कर्म निकंदै।
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै, सो निर्जरा बनारसि बंदै ॥१॥

अनुष्टुप्

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्म्मभिः कर्म्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥२॥

ऐसी शुद्ध स्वरूप के अनुभव में कौन सी सामर्थ्य है जिससे रागादि अशुद्धपना छूटता है ? वह ऐसी सामर्थ्य है कि पूर्व के बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से (प्राप्त) हुए शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय सुख-दुःखरूप नाना प्रकार की सामग्री को यद्यपि कोई सम्यग्दृष्टि जीव भोगता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बांधता है। जैसे कोई वैद्य प्रत्यक्ष ही विष को पीता है तो भी नहीं मरता है क्योंकि वह गुण को जानता है इसलिए अनेक यतन भी जानता है और विष की प्राणघातक शक्ति दूर कर देता है। वही विष और कोई व्यक्ति खाय तो तत्काल मर जाए परन्तु उसी से वैद्य नहीं मरता। जानने की ऐसी सामर्थ्य है। या जैसे कोई शूद्र मदिरा पीता है लेकिन परिणामों में दुश्चिन्ता है और मदिरा पीने में रुचि नहीं है ऐसा व्यक्ति मतवाला नहीं होता है। जैसा था वैसा ही रहता है। मद्य तो ऐसा है कि अन्य कोई पीने तो तत्काल मतवाला हो जाए। परन्तु यदि कोई उसे पीकर भी मतवाला न हुआ तो वह अरुचि परिणाम का गुण जानना चाहिए। उसी प्रकार कोई सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकार सामग्री को भोगता है, सुख-दुःख को जानता है परन्तु अपने ज्ञान में शुद्ध स्वरूप आत्मा का अनुभव होने से ऐसा अनुभवन करता है कि ऐसी सामग्री कर्म का स्वरूप है तथा जीव के लिए दुःखमय है, जीव का स्वरूप नहीं है उपाधि है, ऐसे जीव को कर्म का बन्ध नहीं होता है। सामग्री तो वही है जिसके भोगने से मिथ्यादृष्टि जीव को मात्र कर्म का बन्ध ही होता है। यदि जीव को कर्म बन्ध न हो तो जानना कि यह उसके ज्ञान की सामर्थ्य है। या यों कहो कि सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि नाना प्रकार के कर्मों के उदय का फल भोगता है परन्तु अन्तस् में शुद्ध स्वरूप को ही अनुभवन करता है इसलिए कर्मों के फल में उसको रति या रुचि नहीं उपजती, उनको उपाधि जानता है—दुःख जानता है इसलिए उनके प्रति अत्यन्त रूखा है। ऐसे जीव को कर्मों का बन्ध नहीं होता है। वह रूखे परिणामों की सामर्थ्य है। इस प्रकार यह अर्थ ठहरा कि सम्यग्दृष्टि जीव

शरीर तथा इन्द्रियों के विषयों से भोगों को निर्जरा ही कहलाता है और निर्जरा ही होता है। जिससे आगामी कर्म तो नहीं बंधते और पिछले कर्म उदय में आकर फल देकर समस्त निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के भोग निर्जरा के कारण है ॥२॥

दोहा—महिमा सम्यक ज्ञान की, अरु विराग बल जोय।
क्रिया करत फल भुंजते, कर्म बन्ध नहिं होय ॥

सवैया—जैसे भूप कौतुक स्वरूप करे नीच कर्म,
कौतुकि कहावे तासों कौन कहे रंक है।
जैसे व्यभिचारिणी विचारे व्यभिचार वाको,
जारही सों प्रेम भरतार सों चित्त बंक है॥
जैसे धाई बालक चुंघाई करे लालपाल,
जाने ताहि और को जदपि वाके अंक है।
तैसे ज्ञानवन्त नाना भांति करतूति ठाने,
किरिया को भिन्न माने याते निकलंक है ॥२॥

रथोद्धता

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥३॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय में प्राप्त शरीरादि पञ्चेन्द्रिय विषय सामग्री को भोगता है तथापि नहीं भोगता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का सेवन तो करता है परन्तु उनके सेवन का फल जो ज्ञानावरणादि का कर्मबन्ध है उसको नहीं पाता है। ऐसी उसके शुद्ध स्वरूप के अनुभव की महिमा है। विषयों का सुख कर्म के उदय में होता है, जीव का स्वरूप नहीं है इसलिए उसको विषयों के सुख में रतिभाव पैदा नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो भोग भोगता है वह भी निर्जरा का निमित्त है ॥३॥

सोरठा—पूर्व उदै सम्बन्ध, विषय भोग वे समकिती।
करे न नूतन बंध, महिमा ज्ञान विराग की ॥

मंदाक्रांता

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्वतः स्वं परं च

स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ।।४।।

जिस सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म का उपशम हुआ है, उसका शुद्ध सम्यक्त्व भावरूप परिणाम है, उसके शुद्ध स्वरूप का अनुभवरूप में जानपना होता है तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म तथा ज्ञेयरूप जितने भी परद्रव्य है उन सबका सब प्रकार से त्याग होता है—ऐसी दोनों शक्तियाँ उसमें अवश्य ही सर्वथा होती है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव जहाँ सहज ही शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप होता है वहाँ पुद्गल द्रव्य की उपाधि से उपजी जितनी भी रागादि अशुद्ध परिणति है उन सबसे सब प्रकार रहित भी होता है।

भावार्थ— ऐसे लक्षण सम्यग्दृष्टि जीव के अवश्य होते है और ऐसे लक्षण होने से वैराग्यगुण भी अवश्य होता है। सम्यग्दृष्टि जीव कहने के लिए नहीं बल्कि यह अनुभवरूप से जानता है कि शुद्ध चैतन्यमात्र ही मेरा स्वरूप है और द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का विस्तार तो पराए पुद्गल द्रव्य का है। यही उसकी ज्ञानशक्ति है। इस प्रकार वह अपने शुद्ध स्वरूप का निरन्तर अभ्यास करता है और निजस्वरूप की प्राप्ति के निमित्त अपने शुद्ध स्वरूप का ग्रहण करता है तथा परद्रव्य का सर्वथा त्याग करता है ।।४।।

सवैया—सम्यक्वन्त सदा उर अन्तर, ज्ञान विराग उभै गुण धारे ।
जासु प्रभाव लखे निज लक्षण, जीव अजीव दशा निरवारे ।
आतम को अनुभौ करि स्थिर, आप तरे अरु औरनि तारे ।
साधि स्वद्रव्य लहे शिव सर्म सो, कर्म उपाधि व्यथा वमि डारे ।।४।।

मन्दाक्रांता

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मेस्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ।।५।।

यहाँ यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव के विषय भोगते हुए भी कर्म का बन्ध नहीं है क्योंकि सम्यक्दृष्टि का परिणाम अति रूखा है। इसलिए भोग ऐसे लगते है कि जैसे किसी रोग का उपसर्ग हो रहा हो इसी कारण कर्म का बन्ध नहीं है। और जो मिथ्यादृष्टि जीव पचेन्द्रिय के विषयों का सुख

भोगते है वे परिणामों से चिकने है। मिथ्यात्व भाव का ऐसा ही परिणाम होता है इसमें किसी का चारा नहीं है। वे जीव जो ऐसा मानते है कि हम भी सम्यग्दृष्टि जैसे है और हम भी विषयों का सुख भोगते हुए कर्म का बन्ध नही है, तो वे जीव धोखे में पड़े है। मिथ्यादृष्टि जीवराशि शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव से शून्य है और शुद्ध चैतन्य वस्तु तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के हेयोपादेयता और उनके भिन्नरूप का जानना न होने से शरीर व पंचेंद्रिय के भोगों-सुखों में अवश्य रजक है, कोटि उपाय भी करे तो अनन्त-काल तक पापमय है, ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध करते है, महानिद्य है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव के शुद्ध वस्तु के अनुभव की शक्ति नही होती ऐसा नियम है इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव कर्म के उदय को ही अपना (स्वरूप) जानकर अनुभवन करता है। वह मात्र पर्याय में अत्यन्त रत है इसलिए मिथ्यादृष्टि सर्वथा रागी होता है और रागी होने से कर्मबन्ध का करता है। वह जो अपने आपको स्वयं ही सम्यग्दृष्टि कह कर मानता है कि अनेक प्रकार के विषय सुखों को भोगते हुए भी हमें तो कर्म का बन्ध नहीं है—ऐसा जीव यह मानता है तो मानो तथापि कर्म बन्ध तो है। वह मुंह ऊंचा करके गाल फुलाकर कहे कि मैं सम्यक्दृष्टि हूं या मौन रह कर अथवा थोड़ा बोलकर या अपने आपको हीन दिखाकर, सयानेपन से, सावधानी से ऐसा दिखाए यह सब तो उसकी प्रकृति है, स्वभाव है। परन्तु रागी होते हुए तो मिथ्यादृष्टि ही है। कर्मों का बन्ध करता है। भावार्थ—जो जीव पर्याय-मात्र में रत हैं वे मिथ्यादृष्टि है। यह उनकी प्रकृति का स्वभाव है कि हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमको कर्मों का बन्ध नहीं होता। कोई तो मुह से बोल कर गरजता है, कोई स्वभावतः मौन रहता है, कोई बोलता है। सो यह सब प्रकृति का स्वभाव है। इसमें परमार्थ तो कुछ भी नहीं है। जितने काल तक जीव पर्याय में अपनेपन का अनुभव करता है उतने काल तक मिथ्यादृष्टि है, कर्मों का बन्ध करता है ॥५॥

सवैया— जो नर सम्यकवन्त कहावत,
सम्यकज्ञान कला नहीं जागी।
आतम अंग अबन्ध विचारत,
धारत संग कहे हम त्यागी॥
भेष धरे मुनिराज पटंतर,
अंतर मोह महानल दागी।

शून्य हिये करतूति करे पर,
सो सठ जीव न होय विरागी ॥

चौपाई जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहै। जो बिन क्रिया मोक्ष पद चाहै ॥
जो बिन मोक्ष कहै मैं सुखिया। सो अजान मूढ़न में मुखिया ॥

मंदाक्रांता

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६॥

हे शुद्ध स्वरूप के अनुभव से शून्य जीवराशि ! यह पक्का जान लो कि कर्म के उदय से होने वाली चार गतिरूप पर्याय तथा रागादि अशुद्ध परिणाम तथा इन्द्रिय विषयजनित सुख-दुख इत्यादि कुछ भी सर्वथा जीव स्वरूप नहीं है, नहीं है। ये जो कुछ भी है सब कर्म के संयोग की उपाधि है। यह ऐसा मायाजाल है कि कर्म के उदय जनित अशुद्ध पर्यायों में प्रत्यक्षरूप से रंजायमान होने वाले जीव अनादिकाल से लेकर उसीरूप अपने आप को अनुभव कर रहे हैं।

भावार्थ—अनादिकाल से लेकर ऐसा स्वाद सर्वथा मिथ्यादृष्टि जीव आस्वादन कर रहा है कि मैं देव हूं, मनुष्य हूं, सुखी हूं, दुखी हूं। इस प्रकार पर्याय मात्र को अपने रूप अनुभव कर रहा है। परन्तु यह सब जीव राशि जैसा अनुभव कर रहा है सो सब झूठा है, जीव का तो स्वरूप नहीं है। वह सब जीव राशि जैसी भी पर्याय लेता है उस ही रूप में ऐसी मतवाली हो रही है कि किसी भी समय किसी भी उपाय से उसका मतवालापन नहीं उतरता। आचार्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप को दिखा कर कहते हैं—जो तूने पर्याय मात्र धारण की है, स्वयं उसी मार्ग पर मत जा। क्योंकि वह तेरा मार्ग नहीं है, नहीं है। इस मार्ग पर आ, अरे आ, क्योंकि तेरा मार्ग यहां है, यहां है, जहां चेतनामात्र वस्तु का स्वरूप अत्यन्त शुद्ध, सर्वथा प्रकार सर्व उपाधियों से रहित है। मात्र कहने के लिए ही नहीं, चेतन स्वरूप तो वास्तव में सत्य स्वरूप वस्तु है। इसलिए नित्य है—शाश्वत है। भावार्थ—जिस पर्याय को मिथ्यादृष्टि जीव अपने रूप जानता है वह सब विनाशवान है

इसीलिए जीव का स्वरूप नहीं है। चेतन मात्र अविनाशी है इसीलिए वही जीव का स्वरूप है ॥६॥

सवैया —(१) काया चित्रशाला में करम परजंक भारी,
माया की सवारी सेज चादर कलपना।
शैन करै चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकि दौर यह सपना॥
ऐसे मूढ दशा में मगन रहै तिहुं काल,
धावे भ्रमजाल में न पावे रूप अपना॥

सवैया —चित्रशाला न्यारी, परजंक न्यारो, सेज न्यारि,
चादर भी न्यारी यहां झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै न,
विद्यमान पलक न यामें अब छपना॥
स्वास औ सपन दोउ निद्रा की अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागि भयो चेतन अचेतनता भाव छोड़ि,
भाले दृष्टि खोलि के संभाले रूप अपना॥

दोहा —इह विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।
जे सोवहिं संसार में, ते जगवासी जीव ॥६॥

अनुष्टुप्

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥

यह निरन्तर अनुभव करना है कि समस्त भेद-विकल्पों से रहित निर्विकल्पवस्तुमात्र, समस्त चतुर्गति संबंधी नाना प्रकार के दुःखों के अभाव के लक्षण से युक्त, शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु निश्चय से मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—आत्मा सुख स्वरूप है, साता-असाता कर्म के उदय के संयोग से होने वाले जो सुख-दुःख हैं वे जीव के स्वरूप नहीं हैं, कर्म की उपाधियां हैं। शुद्ध स्वरूप का ऐसा अनुभवरूप स्वाद आने पर

जीव प्रत्यक्षरूप से जानता है कि चार गतियों की पर्यायें, राग-द्वेष-मोह-सुख-दुःख रूप इत्यादि जितने भी अवस्था भेद हैं वे कोई भी जीव का अपना स्वरूप नहीं हैं, उपाधिरूप हैं, विनश्वर हैं और दुःखरूप हैं। भावार्थ—शुद्ध चिद्रूप उपादेय है, अन्य समस्त हेय है ॥७॥

दोहा—जो पद भव-पद भय हरै, सो पद सेउ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदा रूप ॥७॥

शार्दूलविक्रीडित

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकतां ॥८॥

वस्तुरूप से चेतन द्रव्य ऐसा है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान आदि पर्यायों से जो ज्ञान का जितना भी अनेक विकल्परूप परिणमन है उसको निर्विकल्परूप से अनुभवन करता है।

भावार्थ—जैसे उष्णता मात्र अग्नि है परन्तु जलने वाली वस्तु को जलाते समय उसी के आकार में परिणमन करती है। इसलिए लोगों को ऐसा ख्याल उपजता है कि जैसे काठ की आग, छप्पर की आग, तृण की आग इत्यादि। सो ऐसा सब विकल्प झूठा है। वस्तुरूप से आग का विचार करें तो उष्णतामात्र आग है। उसी से एकरूप है। उसी प्रकार ज्ञानचेतना तो प्रकाशमात्र है। समस्त ज्ञेय वस्तुओं को जानने का उसका स्वभाव है। इसलिए समस्त ज्ञेय वस्तुओं को जानता है और जानते हुए ज्ञेयाकार परिणमन करता है। इस प्रकार ज्ञानी जीवों को ऐसी बुद्धि उपजती है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान आदि ज्ञान के भेद सब झूठे विकल्प हैं। ज्ञेय वस्तु की उपाधि से मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवल ऐसे विकल्प उपजाते हैं क्योंकि ज्ञेयवस्तु नाना प्रकार की हैं। जैसे ज्ञेय का जानना होता है, ज्ञान वैसा ही नाम पाता है। वस्तु स्वरूप का विचार करें तो वह ज्ञान मात्र है। अन्य नाम धरने सब झूठे हैं ऐसा अनुभव शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। ऐसा अनुभवशील आत्मा - निर्विकल्प चेतनद्रव्य में अत्यन्त मग्न है, अनाकुलित सुख का आस्वादन करती है, कर्म के संयोग से हुए विकल्परूप-आकुलतारूप इन्द्रियों के विषय जनित

सुखों को अज्ञानी सुख मानता है परन्तु ज्ञानीजीव जो दुःखरूप है ऐसे सुखों को अंगीकार करने में असमर्थ है। भावार्थ—ज्ञानीजीव विषय-कषाय को दुःखरूप जानता है। अपने द्रव्य सम्बन्धी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में परिणमन करता रहता है, चेतन द्रव्य के अनुभव अर्थात् स्वाद की महिमा में चर्या कर रहा है, ज्ञान की नाना प्रकार पर्यायों को मेटने वाला है तथा निर्भेद सत्तामात्र वस्तु का ही अनुभव करता रहता है ।८॥

सवैया—पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदुज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकल्प मेटि,
निर विकलप ज्ञान मनमें धरतु है ॥
इन्द्रिय जनित सुख दुःखसौं विमुख ह्वै के,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागी परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है ॥८॥

शार्दूलविक्रीडित

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥९॥

यह जिस जीव द्रव्य का वर्णन है वह महासमुद्र के समान है।

भावार्थ—जीवद्रव्य को समुद्र की उपमा देने में यह कहा है कि द्रव्यार्थिकनय से वह एक है। पर्यायार्थिकनय से अनेक है। जैसे समुद्र एक है परन्तु तरंगावलि के विचार से अनेक है। समुद्र में अनेक तरंगावलियों की भांति जीव में एक ज्ञानगुण मतिज्ञान-श्रुतज्ञान इत्यादि रूपों के अनेक भेदों में अपनी ही शक्ति से अनादि से परिणमन करता है। जितनी भी पर्यायें हैं उनकी भिन्न सत्ता नहीं है बल्कि वह सब एक ही सत्व है। यद्यपि उसमें ज्ञान-दर्शन-सौख्य-वीर्य इत्यादि अनेक गुण विराजमान हैं तो भी सत्तारूप से एक है। अंशों के विचार से अनेक है। अनन्तकाल से चारों गतियों में फिरते-फिरते भी जो सुख नहीं पाया, ऐसे अनन्त सुख का निधान है। जिस जीव के प्रत्यक्षरूप से संवेदन ज्ञान है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान,

मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि उसके सहज ही पर्यायरूप अंशभेद हैं। इसलिए वे अवश्य प्रगट होते हैं। भावार्थ अगर कोई आशंका करे कि ज्ञान तो ज्ञान मात्र है उसके ये मतिज्ञान आदि पांच भेद क्यों है? उसका समाधान है कि—ये ज्ञान की पर्याय हैं इसमें विरोधी बात तो कोई नहीं है। वस्तु सहज ही ऐसी है। पर्याय मात्र के विचार में मतिज्ञान आदि पांच भेद ऐसे ही हैं। परन्तु वस्तुमात्र का अनुभव हो तो वह ज्ञान मात्र है और जितने भी विकल्प हैं सब झूठे हैं। इस प्रकार विकल्प कोई वस्तु नहीं है, वस्तु तो ज्ञान मात्र है। वह निर्मल से निर्मल है। भावार्थ अगर कोई यह माने कि जितनी ज्ञान की पर्यायें है वे सब अशुद्ध रूप हैं सो ऐसा तो नहीं है। इसलिए जैसा ज्ञान शुद्ध है, वैसे ही ज्ञान की पर्याय वस्तु का स्वरूप है इसलिए शुद्ध स्वरूप है। परन्तु एक पर्याय-विशेष को अवधारण करते हुए विकल्प उपजता है और अनुभव निर्विकल्प है। इसलिए वस्तुमात्र का अनुभवन करते हुए समस्त पर्याय भी ज्ञान मात्र है। इसलिए ज्ञानमात्र अनुभव योग्य है। ज्ञान ने समस्त भावमण्डल- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल व आकाश समस्त द्रव्यों की अतीत-अनागत-वर्तमान अनन्त पर्यायों को इस प्रकार ग्रहण किया है कि जैसे कोई किसी रसायनभूत दिव्य औषधि के समूह में सर्वांग मग्न हुआ हो। भावार्थ जैसे कोई किसी परम रसायनभूत दिव्य औषधि को पी ले तो उसके सर्वांग में तरंगावली सी उपजती है। उसी प्रकार समस्त द्रव्यों को जानने में ज्ञान समर्थ है इसलिए उसके सर्वांग में आनन्द तरंगावली गर्भित है ॥६॥

सवैया—जाके उर अन्तर निरन्तर अनन्त द्रव्य,
भाव भासि रहे पै स्वभाव न टरत है।
निर्मल सों निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घट में अघट रस कौतुक करत है॥
जामे मति, श्रुति, औधि मनपर्य, केवलसु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरत है।
सो है ज्ञान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एक में अनेकता धरत हैं॥६॥

शार्दूलविक्रीड़ित

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्म्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।

साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०॥

जो जीव शुद्ध स्वरूप के अनुभव से भ्रष्ट है, वह जैसा कि पहले कहा है, शुद्ध स्वरूप के अनुभव के अतिरिक्त चाहे हजार उपाय क्यों न करे तो भी समस्तभेदविकल्प से रहित ज्ञानमात्र वस्तु को पाने में निश्चय ही असमर्थ है। प्रत्यक्षरूप से, सर्वथा प्रकार, मोक्ष का स्वरूप जितने भी उपद्रव, क्लेश हैं उन सबसे रहित है और स्वयं अपने द्वारा आस्वादन करने योग्य है।

भावार्थ ज्ञानगुण, ज्ञानगुण के द्वारा ही अनुभव करने योग्य है। इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य कारण से ज्ञानगुण ग्राह्य नहीं है। मिथ्या-दृष्टि जीवराशि के विशुद्ध शुभोपयोगरूप परिणाम हैं, जैनोक्त सूत्रों का अध्ययन है, जीवादि द्रव्यों के स्वरूप का बारंबार स्मरण करता है, तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति इत्यादि भी करता है। परन्तु वह अनेक क्रियाओं को करके बहुत कायकष्ट करे तो करे परन्तु शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति तो शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही सहज होगी। मिथ्यादृष्टि की सभी क्रियाएँ कष्ट साध्य हैं। भावार्थ—जितनी भी क्रियाएं हैं सब दुःखात्मक हैं, शुद्ध स्वरूप के अनु-भव की भांति सुखस्वरूप नहीं हैं। सकल क्रियाओं का पालन करना परंपरा से मोक्ष का कारण है यह जो भ्रम उपजता है वह झूठा है। मिथ्यादृष्टि जीव ने हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) तथा परिग्रह से रहित रहकर महा परीषह का भार सहा, उस आचरण के बहुत बोझ से बहुत काल तक दब-दब के मरा या चूर हुआ, बहुत कष्ट झेले तो भी यह सब करने से उसके कर्मों का क्षय तो नहीं है ॥१०॥

सवैया—कोई क्रूर कष्ट सहे तपसों शरीर दहे,
धूम्रपान करे अधोमुख ह्वै के झूले है।
केई महाव्रत गहे क्रिया में मगन रहे,
वहे मुनिभार पें पयार कैसे पूले है॥
इत्यादिक जीवनिकों सर्वथा मुकति नाहि,
फिरें जगमांहि ज्यों बयार के बघूले हैं।
जिन्ह के हिये में ज्ञान तिन्हहींको निरवाण,
करम के करतार भरम में भूले हैं॥

दोहा—लीन भयो व्यवहार में, युक्ति न उपजे कोय।
दीन भयो प्रभु पद जपे, मुक्ति कहां तें होय॥

प्रभु सुमरो पूजा पढ़ो, करो विविध व्यवहार।
मोक्ष स्वरूपी आतमा, ज्ञानगम्य निरधार ॥१०॥

द्रुतविलम्बित

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

इसलिए हे तीनों लोकों की जीव राशि, अपने शुद्ध ज्ञान को प्रत्यक्ष-रूप से अनुभव करने की सामर्थ्य के बल पर तुम्हें निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र-वस्तु का निरन्तर अभ्यास करने के निमित्त अखण्ड–धारा प्रवाहरूप से यत्न करना है। निश्चय ही वह ज्ञानपद जितनी भी क्रियाएं हैं उनसे अप्राप्य है। जब कि ज्ञान के निरंतर अनुभव में सहज ही पाया जाता है।

भावार्थ : शुभ, अशुभरूप जितनी भी क्रियाएं हैं उनका ममत्व छोड़ कर एक शुद्ध स्वरूप का अनुभव ज्ञानपद की प्राप्ति का कारण है ॥११॥

दोहा बहुविधि क्रिया कलापसों, शिवपद लहे न कोय।
ज्ञानकला परकाश ते, सहज मोक्षपद होय ॥
ज्ञानकला घट-घट बसे, योग युक्ति के पार।
निज-निज कला उदोत करि, मुक्त होइ संसार ॥११॥

उपजाति

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१२॥

सम्यग्दृष्टि जीव यह जानकर निर्विकल्प चिद्रूपवस्तु का निरन्तर अनुभव करता है कि उसमें चतुर्गति संसार संबधी दुखों का विनाश, अतीन्द्रिय सुखों की प्राप्ति जैसे कार्यों की सिद्धि होती है। वह ज्ञानपद ऐसा है कि उसके शुद्ध स्वरूप में अन्य जितने भी विकल्प हैं सब बाहर हैं। विवरण—शुभ-अशुभ क्रियारूप अथवा रागादि विकल्परूप अथवा द्रव्य के भेदों के विचाररूप जो भी अनेक विकल्प हैं उनके सावधानी से प्रतिपालन अथवा आचरण अथवा स्मरण में कौनसी कार्य की सिद्धि है? कोई कार्यसिद्धि नहीं है केवल भरम है। यह निश्चय से जानो कि शुद्ध जीववस्तु अपने में ही शुद्ध ज्ञानमात्र के अनुभवरूप चिन्तामणि रत्न है, इसमें कोई धोखा नहीं है।

भावार्थ—जैसे किसी पुण्यात्मा जीव के हाथ चिन्तामणि रत्न पड़

जाए, जिससे उसके सभी मनोरथ पूरे होते हैं तो वह व्यक्ति लोहे, तांबे या चांदी इत्यादि धातुओं का संग्रह नहीं करता। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के पास शुद्ध स्वरूप के अनुभव रूप चिन्तामणि रत्न है जिससे सभी कर्मों का क्षय होता है और परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-अशुभरूप अनेक क्रियाओं के विकल्प का संग्रह नहीं करता जिनसे कोई कार्य सिद्धि नहीं होती। शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूपी चिन्तामणि रत्न की महिमा वचन गोचर नहीं है और वह परमपूज्य है ॥१२॥

कुण्डलिका अनुभव चिन्तामणि रतन, जाके हिय परकाश।
सो पुनीत शिवपद लहै, दहै चतुर्गति बास॥
दहै चतुर्गति बास, आस धरि क्रिया न मण्डै।
नूतन बंध निरोधि, पूर्वकृत कर्म बिहण्डै॥
ताके न गिनु विकार, न गिनु बहु भार, न गिनु भव।
जाके हिरदै मांहि रतन चिंतामणि अनुभव ॥१२॥

वसंततिलका

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं।
अज्ञानमुज्झितमना अधुना विशेषाद्भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः॥

जीव का कर्म से एकत्वबुद्धिरूप जो मिथ्यात्व है वह कैसे छूटे, ऐसा जिनका अभिप्राय है उनको ग्रन्थकर्ता यहां से आरम्भ करके कुछ विशेष कहने का उद्यम करेंगे। जितने भी परद्रव्यरूप परिग्रह हैं उनके भिन्न-भिन्न नामों के विवरण सहित छोड़ने अथवा छुड़वाने के लिए अभी तक जो कुछ कहा वह ऐसे है कि जितनी भी पुद्गल सामग्री कर्म की उपाधि से प्राप्त है, परद्रव्य है, सो त्यागने योग्य है। ऐसा कहकर परद्रव्य का त्याग कहा। अर्थात् जितना परद्रव्य है उतना सब त्याज्य है। क्रोध परद्रव्य है इसलिए त्याज्य है, मान परद्रव्य है इसलिए त्याज्य है, इत्यादि। इसी तरह भोजन परद्रव्य है इसलिए त्याज्य है, पानी पीना परद्रव्य है इसलिए त्याज्य है। परद्रव्य परिग्रह शुद्धचिद्रूप-वस्तु और द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म के एकत्वरूप संस्कार का कारण है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टि जीव को जीव और कर्म में एकत्व बुद्धि है। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव में परद्रव्य का परिग्रह घटित होता है। सम्यक्-

दृष्टि जीव की भेद बुद्धि है इसलिए परद्रव्य का परिग्रह उस के नहीं घटता। इस विषय का यहां से लेकर कथन करेंगे ॥१३॥

सवैया— आतम स्वभाव परभावकी न शुद्धि ताकों,
जाको मन मगन परिग्रहमें रह्यो है।
ऐसो अविवेक को निधान परिग्रह राग,
ताको त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यो है॥
अब निज-पर भ्रम दूर करिवेको काज,
बहुरो सुगुरु उपदेशको उमग्यो है।
परिग्रह अरु परिग्रह को विशेष अंग,
कहिवेको उद्यम उदार लहलह्यो है॥

दोहा— त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार ॥१३॥

स्वागता

पूर्वबद्धनिजकर्म्मविपाकाद् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४॥

जहां से जीव सम्यक्दृष्टि हुआ वहां से विषय सामग्री में राग-द्वेष-मोह से रहित हो गया इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के कदाचित् शरीरादि सम्पूर्ण भोग सामग्री हो तो हो और वह उस सामग्री को भोगता भी हो परंतु यह निश्चय है कि वह विषय सामग्री के स्वीकार के अभिप्राय को नहीं प्राप्त होता। कोई प्रश्न करे कि ऐसे वैरागी-सम्यग्दृष्टि जीव के विषय सामग्री होती क्यों है ? उत्तर—सम्यक्त्व उपजने से पहले जीव मिथ्यादृष्टि था, रागी था। उस रागभाव से जो अपने प्रदेशों में ज्ञानावरणादि के रूप में कार्माण वर्गणा का बन्ध किया था उसके पककर उदय में आने से विषय सामग्री होती है।

भावार्थ—राग-द्वेष-मोह के परिणामों के मिट जाने पर द्रव्यरूप-बाहरी सामग्री भोग बंध का कारण नहीं है, वह तो पहले से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा है ॥१४॥

चौपाई पूरब करम उदै रस भुंजै। ज्ञान मगन ममता न प्रयुंजै॥
मनमें उदासीनता लहिये। यों बुध परिग्रहवंत न कहिये ॥१४॥

स्वागता

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।

तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१५

इस प्रकार कर्म के उदय से जो नाना प्रकार की सामग्री मिलती है सम्यक्दृष्टि जीव उसकी किंचित् आकांक्षा नहीं करता। कर्म की सामग्री में से कोई सामग्री जीव के लिए सुख का कारण है, ऐसा नहीं मानता है। सभी सामग्री दुःख का कारण है, ऐसा मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव सभी कर्मजनित सामग्री का मन-वचन-काय की त्रि-शुद्धि के द्वारा, सर्वथा त्याग-रूप परिणमन करता है क्योंकि, यह निश्चय है कि जिसकी आकांक्षा करे वह मिलता नहीं। जिस वस्तु या सामग्री की वांछा की जाए और वांछारूप जीव के अशुद्ध परिणाम दोनों ही अशुद्ध, विनश्वर और कर्मजनित हैं। क्षण-क्षण में और से और होते रहते हैं। चिन्तता कुछ है, होता कुछ और है।

भावार्थ—अशुद्ध रागादि परिणाम और विषय सामग्री दोनों ही समय-समय पर नष्ट होते हैं इसलिए जीव का स्वरूप नहीं है। इसलिए सम्यक्-दृष्टि जीव के ऐसे भाव का सर्वथा त्याग है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं है, निर्जरा है ॥१५॥

सवैया—जे जे मनवांछित विलास भोग जगत में,
ते ते बिनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिणाम,
ते ते बिनासीक धाररूप ह्वै बहत हैं ॥
एकता न दुहों मांहि ताते वांछा फुरे नांहि,
ऐसे भ्रम कारिजको मूरख चहत है।
सतत रहे सचेत परसों न करे हेत,
यातें ज्ञानवंत को अवंछक कहत हैं ॥१५॥

स्वागता

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति।

रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१६॥

सम्यग्दृष्टि जीव के जितनी भी विषय सामग्री अथवा उसको भोगने की क्रिया है, उनका ममतारूप स्वीकारपना निश्चय से नहीं है। कर्म की सामग्री को अपना जानने में जो उसमें रंजने के (सुख पाने के) परिणाम

होते हैं उनके वश में सम्यग्दृष्टि जीव रीता है। इसका दृष्टांत इस प्रकार है— जैसे यह सारे लोक में प्रकट है कि जिस कपड़े में फिटकरी की लोद नहीं लगी है उसमें मजीठ के रंग को इकट्ठा कर लेने पर अथवा उसका सयोग करने पर भी उस पर लाल रंग नहीं चढ़ता, बाहर ही बाहर फिरता रहता है।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव के पंचेन्द्रिय विषय सामग्री है और उसको वह भोगता भी है परन्तु उसके अन्तरंग में राग-द्वेष-मोह भाव नहीं है इसलिए कर्म का बन्ध नहीं होता, निर्जरा होती है ॥१६॥

सवैया— जैसे फिटकड़ि लोद हरड़े की पुट बिना,
श्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीर में।
भीग्यो रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदे नहि अन्तर सफेदी रहे चीर में॥
तैसे समकितवन्त रागद्वेष मोह बिन,
रहे निशि वासर परिग्रह की भीर में।
पूरब करम हरे नूतन न बन्ध करे,
जाचे न जगत सुख राचे न शरीर में ॥१६॥

स्वागता

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्ज्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्म्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१७॥

इस प्रकार जो जीव शुद्ध स्वरूप के अनुभवशील हैं उनका विभाव परिणमन मिट कर द्रव्य का शुद्धतारूप परिणमन हुआ है। इसलिए समस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणामों के अनादिकाल के संस्कारों से उनका स्वभाव रहित हो गया है। इस कारण से यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली अनेक प्रकार की भोग सामग्री (पंचेन्द्रियों के द्वारा भोगी जाने वाली सामग्री) का भोग करता है, सुख-दुख पाता है, तो भी आठों ही प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बांधता है।

भावार्थ—चूंकि अंतरंग चिकना नहीं है, इसलिए बंध नहीं होता, निर्जरा होती है ॥१७॥

सवैया— जैसे काहू देशको बसैया बलवंत नर,
जंगल में जाई मधु छत्ता को गहत है।
वाको लपटाय चहुं ओर मधुमक्षिका पै,
कंबल की ओढ सों अडंकित रहत है॥

तैसे समकिती जीव सत्ताको स्वरूप साधे,
उदैकी उपाधी को समाधिसी कहत है।
पहिरे सहज को सनाह मन में उछाह,
ठाने सुख राह उदवेग न लहत है॥

दोहा—ज्ञानी ज्ञान मगन रहे, रागादिक मल खोय।
चित्त उदास करनी करे, कर्मबन्ध नहिं होय॥
मोह महातम मल हरे, धरे सुमति परकास।
मुक्ति पंथ परगट करे, दीपक ज्ञान विलास॥१७॥

शार्दूलविक्रीडित

याहृक् ताहृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्याहृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेत् ज्ञानं भवेत्सन्ततम्
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव॥१८॥

यहां कोई प्रश्न करे कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव परिणामों से तो शुद्ध है, परन्तु पंचेन्द्रिय के विषयों को भोग रहा है, सो भोगते हुए उसके कर्म का बन्ध है कि नहीं है ? इसका समाधान है कि उसके कर्म का बन्ध नहीं है। वह सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय मे जो भोग सामग्री उपलब्ध हुई है उसको भोगता है तो भी उसके ज्ञानावरणादि कर्मों का आगमन नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के विषय सामग्री का भोग करते हुए भी बन्ध नहीं होता, निर्जरा होती है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सर्वथा अवश्य ही परिणामों में शुद्ध होता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। परिणामों की शुद्धता रहते हुए बाहरी भोगसामग्री से बन्ध नहीं किया जा सकता। कोई कहे कि जब सम्यग्दृष्टि जीव भोग भोगता है तो भोग भोगते हुए अशुद्ध परिणाम होते हैं तो वहां रागरूप परिणामों के होने पर बन्ध तो होता ही होगा ? सो ऐसा नहीं है—वस्तु का स्वरूप तो यों है कि शुद्ध ज्ञान होने पर भोग सामग्री के करने से अशुद्धरूप किया नहीं जा सकता। कितनी ही भोग सामग्री भोगे, शुद्ध ज्ञान तो अपने निज स्वरूप अर्थात् शुद्ध-ज्ञान स्वरूप ही रहता है, यह वस्तु का सहज स्वरूप है। जो आत्म द्रव्य शुद्ध स्वभावरूप परिणमा है वह अनेक प्रकार की अतीत-अनागत-वर्तमान

काल से सर्वाधिक भोग सामग्री को भोगते हुए भी विभावरूप अर्थात् अशुद्ध रागादिरूप नहीं होता। जीव द्रव्य ने शाश्वतरूप से शुद्ध स्वरूप परिणमन किया है वह माया जाल की तरह क्षण में विनश्वर नहीं है। अब दृष्टान्त से वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करते हैं। जिस वस्तु का जो भी स्वभाव है, जैसा भी स्वभाव है वह अनादि-निधन है। जैसे शंख का श्वेत स्वभाव है तो वह श्वेत ही होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का शुद्ध परिणाम है तो शुद्ध ही है। वस्तु के स्वभाव को और (भिन्न) कर देने की अन्य किसी भी वस्तु में किसी भी प्रकार सामर्थ्य नहीं है। भावार्थ — स्वभाव से शंख श्वेत है। वह काली मिट्टी खाता है या पीली मिट्टी खाता है, नाना वर्ण की मिट्टी खाता है परन्तु शंख वह मिट्टी खाकर मिट्टी के रंग का नहीं हो जाता, अपने श्वेतरूप में ही रहता है। वस्तु का ऐसा ही सहज स्वरूप है। उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि जीव के स्वभाव से राग-द्वेष-मोह रहित शुद्ध परिणाम हैं। ऐसा जीव यद्यपि नाना प्रकार की अनेक भोग सामग्री भोगता है तो भी उसका अपना अशुद्ध परिणाम रूप परिणमन नहीं होता। यही वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के कर्मों का बन्ध नहीं है, निर्जरा है ॥१८॥

सवैया — **जामें धूमको न लेश वात को न परवेश,**
करम पतंगनि को नाश करे पल में।
दशाको न भोग न सनेहको संयोग जामें,
मोह अन्धकार को वियोग जाके थल में ॥
जामें न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहे समता समाधि जोग जल में।
ऐसे ज्ञान दीप की सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुद्गल में ॥
जैसे जो दरब तामें तैसो ही स्वभाव सधे,
कोउ द्रव्य काहूको स्वभाव न गहत है।
जैसे शंख उज्जल विविध वर्ण माटी भखे,
माटीसा न दीसे नित उज्जल रहत है ॥
तैसे ज्ञानवन्त नाना भोग परिग्रह जोग,
करत विलास न अज्ञानता लहत है।
ज्ञानकला दूनी होय द्वन्द दशा सूनी होय,
ऊनी होय भव थिति बनारसी कहत है ॥१८॥

शार्दूलविक्रीड़ित

ज्ञानिन् कर्म्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन् वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१९॥

सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी प्रकार, कभी भी, ज्ञानावरणादि पुद्गल-कर्म पिंड बाँधने के योग्य नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के कर्मों का बन्ध नहीं है तो फिर विशेष भेद क्या है (?) वह वचनों के द्वारा कहते हैं। यदि कोई यह जान कर भोग सामग्री का भोग अथवा पंचेन्द्रिय के विषयों का सेवन करता है कि मुझे कर्म का बंध नहीं है तो हे जीव, ऐसा समझ कर भोगों का भोग करना भला नहीं है। जहाँ भोग सामग्री भोगते भी ज्ञाना-वरणादि कर्मों का बन्ध नहीं होता वहाँ सम्यक्दृष्टि जीव का ऐसा स्वेच्छाचारी आचरण कैसे होगा—अपितु ऐसा नहीं होगा। भावार्थ सम्यग्दृष्टि जीव राग-द्वेष-मोह से रहित है। वही सम्यग्दृष्टि जीव जब सम्यक्त्व छूटने पर मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है तो ज्ञानावरणादि कर्मों का अवश्य बन्ध करता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि होता हुआ ही वह राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता है, ऐसा कहा है। सम्यक्दृष्टि होता हुआ जितने समय प्रवर्तन करता है उतने समय बन्ध नहीं होता। मिथ्यादृष्टि होता हुआ अपने ही दोष से रागादि अशुद्धरूप परिणमन के वश ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध करता है ॥१९॥

सवैया—जौलौं ज्ञानको उदोत तौलौं नहिं बंध होत,
बरते मिथ्यात्व तब नाना बन्ध होहि है।
ऐसो भेद सुनके लग्यो तूं विषय भोगनसूं,
जोगनिसूं उद्यम की रीति तैं बिछोहि है॥
सुनो भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहू तो एकंत परमेश्वर को द्रोही है।
विषै सूं विमुख होहि अनुभौ दशा आरोहि,
मोक्ष सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोही है॥

चौपाई—ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जग मांही सहज वैरागी ।
ज्ञानी मगन विषै सुख मांही, यह विपरीत संभवै नाहीं ॥१९॥

शार्दूलविक्रीडित

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥२०॥

सब जिस सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव हुआ है वह ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बांधता है। सब प्रकार की कर्म जनित सामग्री में आत्मबुद्धि जान कर होने वाले रंजन परिणामों से निवृत्त वह एक सुखरूप स्वभाव है। यद्यपि वह निश्चय ही कर्मजनित सामग्री में जो भोगरूप क्रिया हो रही है उसको करता भी है, भोगता भी है।

भावार्थ—सम्यकदृष्टि जीव के विभावरूप मिथ्या परिणाम मिट गये हैं और अनाकुलता के लक्षण से युक्त अतीन्द्रिय सुख अनुभव गोचर हुआ है। उसने ज्ञानमय होकर रागभाव को दूर कर दिया है। कर्मजनित जो चार गतियों की पर्याय और पंचेन्द्रिय के भोग हैं वे सब आकुलता के लक्षण से युक्त दुःखरूप हैं। सम्यकदृष्टि जीव ऐसा ही अनुभव करता है इसलिए जो भी कोई साता अथवा असातारूप कर्म के उदय से इष्ट-कारक अथवा अनिष्टकारक सामग्री प्राप्त होती है वह सब सम्यग्दृष्टि जीव के सम्मुख अनिष्टकारक ही है। जैसे किसी जीव के अशुभ कर्म के उदय से रोग, शोक, दारिद्रय इत्यादि हो जाए तो वह उन्हें छोड़ने को (उनसे बचने को) घना (अधिक) ही प्रयत्न करता है। परन्तु अशुभ कर्म का उदय होने से वह उनसे छूटता नहीं है और उसे भोगना ही पड़ता है। वैसे ही सम्यक-दृष्टि जीव को पिछले अज्ञानरूप परिणामों के आधीन बंधे सातारूप अथवा असातारूप कर्मों के उदय से अनेक प्रकार की विषय सामग्री प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि जीव उन सबको दुःखरूप ही अनुभव करता है और उनसे बचने का घना ही प्रयत्न करता है। परन्तु जब तक क्षपकश्रेणी न चढ़े तब तक उनका छूटना अशक्य है। इस प्रकार परवश हुआ उनको भोगता है। हृदय

में तो अत्यन्त विरक्त है इसलिए अरंजक है और भोग सामग्री को भोगते हुए भी उसको कर्म का बन्ध नहीं है, निर्जरा है। उदाहरणार्थ—राजा की सेवा आदि से लेकर जितनी भी कर्मभूमि की क्रियाएं हैं उन सब क्रियाओं को जो कोई पुरुष रंजक होकर, तन्मय होकर करता है उसको जैसे राजा की सेवा से द्रव्य की प्राप्ति होती है, भूमि की प्राप्ति होती है, जैसे खेती करने से अन्न की प्राप्ति होती है वैसे कर्ता पुरुष को अवश्य ही क्रिया के फल का संयोग होता है। भावार्थ—जो क्रिया को न करे तो उसको फल की प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव को बन्ध नहीं होता, निर्जरा होती है क्योंकि सम्यक्दृष्टि जीव भोग सामग्री में संबन्धित क्रियाओं का कर्ता नहीं है इसलिए उसे क्रिया का फल नहीं है। इस प्रकार दृष्टांत के द्वारा यह दृढ़ किया है कि कर्म का बन्ध सम्यक्दृष्टि जीव के नहीं होता। इस प्रकार, फल की अभिलाषा से जो कोई पूर्वोक्त नाना प्रकार की क्रियाएं करता है वही पुरुष क्रिया के फल को पाता है। भावार्थ—जो कोई पुरुष निरभिलाष होकर क्रिया करता है उसको फिर क्रिया का फल नहीं है ॥२०॥

चौपाई—मूढ़ कर्म को कर्ता होवे। फल अभिलाष धरे फल जोवे ॥
ज्ञानी क्रिया करे फल सूनी। लगे न लेप निर्जरा दूनी ॥

दोहा—बंधे कर्मसौं मूढ़ ज्यों, पाट कीट तन पेम।
खुले कर्मसौं समकिती, गोरख धंधा जेम ॥२०॥

शार्दूलविक्रीड़ित

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

हम ऐसी तो प्रतीति न करें कि जिसको कर्म के उदय से भोग सामग्री प्राप्त हुई है, परन्तु उसमें जिसने सर्वथा ममत्व छोड़ दिया है, ऐसा सम्यक्-दृष्टि जीव ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध करता है।

भावार्थ—जो कर्म के उदय से उदासीन है, उसको कर्मों का बन्ध नहीं होता—कर्मों की निर्जरा होती है। परन्तु यह विशेष बात है कि सम्यक्-दृष्टि को भी पहले बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से पंचेन्द्रिय विषय

भोग क्रियाएँ, बिना अभिलाष किए, बरजोरी से प्राप्त होती हैं। भावार्थ—जैसे किसी को रोग, शोक, दारिद्र्य बिना उनकी वांछा किए भी प्राप्त होते हैं वैसे ही सम्यकदृष्टि जीव को भी जो क्रियाएं होती हैं बिना ही वांछा के होती है। सम्यकदृष्टि जीव को बरजोरी से भोग क्रियाएं होते हुए भी सम्यक्-दृष्टि जीव अनिच्छक है। कर्म के उदय से क्रिया करता है तो क्रिया का करना क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा। सम्यग्दृष्टि जीव भोग रूप क्रिया का करता किसी भी भाँति नहीं है। वह तो ज्ञायक स्वरूप मात्र है और अपने निश्चल परम ज्ञान स्वभाव में स्थित है ॥२१॥

सवैया जे निज पूरब कर्म उदै सुख, भुंजत भोग उदास रहेंगे।
जे दुख में न विलाप करें, निरवैर हिये तन ताप सहेंगे ॥
है जिनके दृढ़ आतम ज्ञान, क्रिया करके फल को न चहेंगे।
ते सु विचक्षण ज्ञायक हैं, तिनको करता हम तो न कहेंगे ॥२१॥

शार्दूलविक्रीडित

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥२२॥

जो जीवराशि स्वभाव गुणरूप परिणमी है वह ऐसी, सबसे उत्कृष्ट, वीरता (साहस) करने में समर्थ है कि महान वज्र पड़ने पर भी शुद्ध स्वरूप के अनुभव के कारण अपने सहज गुण से चलित नहीं होती।

भावार्थ—यदि कोई अज्ञानी ऐसा माने कि जब सम्यकदृष्टि जीव को साता कर्म के उदय से अनेक प्रकार की इष्ट भोग सामग्री प्राप्त है और असाता कर्म के उदय से अनेक प्रकार रोग, शोक, दारिद्र्य, परीषह, उपसर्ग इत्यादि, अनिष्ट सामग्री मिली है तो उनको भोगते हुए तो वह शुद्ध स्वरूप के अनुभव से चूकता ही होगा। इसका समाधान यह है कि अनुभव से नहीं चूकता है। अनुभव तो जैसा है वैसा ही रहता है—वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। वज्र पड़ने पर सब संसारी जीव साहस छोड़ बैठते हैं, अपनी-अपनी क्रिया करना बन्द कर देते हैं। भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव को उपसर्ग, परी-षह पड़ने पर ज्ञान की सुधि नहीं रहती। परन्तु सम्यकदृष्टि जीव तो शुद्ध

चिद्रूप का जो प्रत्यक्ष अनुभव करता है वह शाश्वत है, ज्ञानगुण मात्र ही उसका शरीर है। वह सात प्रकार की शंका व भय से किस प्रकार छूटता है ? सो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के स्वभाव में ही भय से रहितपना है, उसी के द्वारा उसका भय छूटता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के निर्भय स्वभाव के कारण सहज ही अनेक प्रकार के परीषह-उपसर्ग का भय नहीं है। वह सहज ही निर्भय है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म-बन्ध नहीं है, निर्जरा है ॥२२॥

सवैया—जमकोसो भ्राता दुःखदाता है असाताकर्म,
ताके उदै मूरख न साहस गहत है।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पातालवासी,
सबहीको तन मन कंपत रहत है॥
उरको उजारो न्यारो देखिये सपत भै से,
डोलत निशंक भयो आनन्द लहत है।
सहज सुवीर जाको सास्वत शरीर ऐसो,
ज्ञानी जीव आरज आचारज कहत है॥

दोहा—इहभव भय परलोक भय, मरण वेदना जात।
अनरक्षा अनगुप्त भय, अकस्मात भय सात ॥२२॥

शार्दूलविक्रीड़ित

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोको यन्न तवापरस्तवपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२३॥

सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव ही से शुद्ध चैतन्य वस्तु का निरन्तर रूप से—अतीत, अनागत, वर्तमान काल में—अनुभव करता है, आस्वादन करता है। अपने आप ही अपने आप का अनुभव करता है। सम्यग्दृष्टि जीव सप्त-भय से रहित है। ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव को इहलोक भय-परलोक भय कहाँ से होगा, अर्थात् नहीं होता है। हे जीव, जो चिद्रूप मात्र है वही तेरा लोक है। और जो कुछ भी इहलोक-परलोक-पर्यायरूप है वह तेरा स्वरूप नहीं है। इहलोक अर्थात् वर्तमान पर्याय में यह चिन्ता कि जो भोग सामग्री प्राप्त हुई

है वह पूरी पर्याय में अर्थात् पर्याय के अन्त तक रहेगी या नहीं रहेगी, परलोक की चिन्ता—कि मर कर किसी अच्छी गति में जाऊंगा या नहीं जाऊंगा—यह कोई जीव के स्वरूप नहीं है। इसलिए जो चैतन्य लोक है वह निर्विकल्प है। वह ज्ञान स्वरूप आत्मा का स्वयं ही देखना है।

भावार्थ—जीव का स्वरूप ज्ञानमात्र ही है। चैतन्यलोक अविनाशी है, एक (अखण्ड) वस्तु है और त्रिकाल प्रगट है। जिसका आत्म स्वरूप पर से भिन्न हुआ है, ऐसा है भेदज्ञानी पुरुष ॥२३॥

छप्पै—नख शिख मित परमाण, ज्ञान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग पर धन इम अक्खत।
छिन भंगुर संसार विभव, परिवार भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संयोग वियोग तसु।
परिग्रह प्रपंच परगट परखि, इहभव भय उपजै न चित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥
ज्ञानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोक्ष सुख।
इतर लोक मम नाहि, नाहि जिस मांहि दोष दुख।
पुन्य सुगति दातार, पाप दुर्गति दुखदायक।
दोऊ खण्डित खानि, मैं अखण्डित शिव नायक।
इहविधि विचार परलोक भय, नहि व्यापत वरतै सुखित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥२३॥

शार्दूलविक्रीडित

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते।
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः॥
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२४॥

सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं ही निरन्तर—त्रिकालरूप—अपने स्वभाव से उत्पन्न ज्ञान अर्थात् जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, स्वाद लेता है। सम्यग्दृष्टि जीव सात प्रकार के भय से मुक्त होता है। उसको वेदना का भय कहां से हो—अर्थात् नहीं होता। जो पुरुष सदा भेदज्ञान से युक्त हैं वे पुरुष निश्चय ही ऐसा अनुभव करते हैं और इसलिए अन्य कर्म के उदय से हुई सुखरूप अथवा दुःखरूप वेदना से अलग हैं, जो जीव की है ही नहीं।

ज्ञान शाश्वत है, एकरूप है, अभेद है। अपनी सामर्थ्य से उसका जो वेदन करता है, वही वेदन कर्त्ता है।

भावार्थ—जीव का स्वरूप ज्ञान है जो एकरूप है। साता-असाता कर्मों के उदय से जो सुख-दुख रूप वेदन होता है वह जीव का स्वरूप नहीं है इसलिए सम्यक्दृष्टि जीव को रोग उत्पन्न होने का भय नहीं होता ॥२४॥

छप्पै—वेदनहारो जीव, जाहि वेदंत सोउ जिय।
एह वेदना अभंग, सो तो मम अंग नांहि बिय।
करम वेदना द्विविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोउ मोह विकार, पुद्गलाकार बहिर्मुख।
जब यह विवेक मन में धरत, तब न वेदना भय विदित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥२४॥

शार्दूलविक्रीडित

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२५॥

सम्यक्दृष्टि जीव उस शुद्ध स्वरूप का त्रिकालरूप से अनुभवन करता है, आस्वादन करता है, जो ज्ञान निरन्तर वर्तमान है, अनादि निधन है और बिना कारण द्रव्यरूप है। मेरा कोई रक्षक नहीं है—सम्यक्दृष्टि जीव ऐसे भय से रहित है। सम्यक्दृष्टि जीव को मेरा कोई रक्षक है या नहीं ऐसा भय क्यों होगा—अपितु नहीं होगा। इस कारण से जीव वस्तु के परमाणुमात्र भी अरक्षकपना नहीं है। क्योंकि जो कुछ सत्ता स्वरूप वस्तु है वह तो विनाश को प्राप्त नहीं होती। इस कारण से वस्तु का अविनश्वरपना निश्चय ही प्रगट है। जीव का शुद्ध स्वरूप सहज ही सत्ता रूप है। इसलिए किसी द्रव्यान्तर के भय से उसकी रक्षा कोई क्या करेगा?

भावार्थ—मेरा रक्षक कोई है या नहीं ऐसा भय सम्यक्दृष्टि जीव को नहीं होता इसलिए ऐसा अनुभव होता है कि शुद्ध स्वरूप सहज ही शाश्वत है इसको कोई क्या रखेगा ॥२५॥

छप्पै—जो स्ववस्तु सत्ता स्वरूप, जगमांहि त्रिकाल गत।
तास विनास न होय, सहज निश्चय प्रमाण मत ॥

सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर।
तिहि कारण रक्षक न होय भक्षक न कोय पर॥
जब यह प्रकार निरधार किय, तब अनरक्षा भय नसत।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥२५॥

शार्दूलविक्रीडित

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥२६॥

सम्यक्दृष्टि जीव उस शुद्ध चैतन्य वस्तु का निरन्तर अनुभवन करता है जो अनादि सिद्ध है, शुद्ध वस्तु स्वरूप है तथा अखंड धाराप्रवाह रूप है। वस्तु को जतन से रक्खूं, नहीं तो कोई चुरा लेगा, सम्यक्दृष्टि जीव ऐसे अगुप्ति (असुरक्षा) के भय से रहित है। जिस कारण शुद्ध जीव को किसी प्रकार का अगुप्तिपना नहीं है। सम्यक्दृष्टि जीव को हमारा कुछ कोई छीन न ले ऐसा अगुप्तिभय कहाँ से होगा - अर्थात् नहीं होगा। निश्चय ही जो कोई द्रव्य है उसके जो कुछ निज लक्षण हैं वे सर्वथा प्रकार गुप्त (सुरक्षित) हैं। अस्तित्व की दृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में संक्रमण होने में (प्रवेश करने में) समर्थ नहीं है। आत्म द्रव्य चैतन्य स्वरूप व ज्ञानस्वरूप है चैतन्य न तो किसी का किया हुआ है न कोई उसको हर सकता है।

भावार्थ—सब जीवों को ऐसा भय हो रहा है कि हमारा कोई कुछ चुरा लेगा, छीन लेगा सो ऐसा भय सम्यक्दृष्टि को नहीं होता। क्योंकि सम्यक्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है कि हमारा तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है उसको तो कोई चुरा सकता नहीं, छीन सकता नहीं। वस्तु का स्वरूप अनादि-निधन है॥२६॥

छप्पै—परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन् मंडित।
पर परवेश तहं नांहि, मांहि महि अगम अखंडित॥
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहे, ठौर नहिं लहे और जन॥
चितवंत एम धरि ध्यान जब, तब अगुप्त भय उपशमित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित॥२६॥

शार्दूलविक्रीड़ित

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२७॥

सम्यक्दृष्टि जीव उस ज्ञान अर्थात् शुद्ध चैतन्य वस्तु का निरन्तर रूप से स्वाद लेता है जो अनादि सिद्ध है, अखण्ड धारा प्रवाह रूप है और बिना कारण सहज ही निष्पन्न है। सम्यक्दृष्टि जीव मरण के शंका दोष (भय) से रहित है, शरीर के नाश के विचार से निःशंक है। क्योंकि आत्म-द्रव्य के प्राणों का शुद्धभाव—किंचित भी वियोग नहीं होता और इसीलिए सम्यक्दृष्टि को मरण का भय कहां से होगा ? अपितु नहीं होगा। इन्द्रिय, बल, उच्छ्वास, आयु ऐसे जो प्राण हैं उनके विनाश को मरण कहते हैं—ऐसा अरहंतदेव ने कहा है। परन्तु जीवद्रव्य का तो निश्चय ही शुद्ध चैतन्यमात्र प्राण है। शुद्ध ज्ञान किसी भी काल में विनष्ट नहीं होता। वह बिना ही यत्न अविनश्वर है।

भावार्थ—सब मिथ्यादृष्टि जीवों को मरण का भय होता है। सम्यक्-दृष्टि जीव ऐसा अनुभव करता है कि मेरा शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप है उसका विनाश नहीं है। प्राणों का विनाश होता है वह तो मेरा स्वरूप है ही नहीं, पुद्गल का स्वरूप है। इसलिए मेरा मरण होता हो तो मैं डरूं, ऐसे कैसे डरूं—मेरा स्वरूप तो शाश्वत है ॥२७॥

छप्पै—करस जीभ नासिका, नयन अरु श्रवण अक्ष इति।
मन, वच, तन बल तीन, स्वास उस्वास आयु थिति।
ये दस प्राण विनाश, ताहि जग मरण कहीजे।
ज्ञान प्राण संयुक्त, जीव तिहुं काल न छीजे।
यह चित करत नहि मरण भय, नय प्रमाण जिनवर कथित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥२७॥

शार्दूलविक्रीड़ित

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।

तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२८॥

सम्यक्दृष्टि जीव उस शुद्ध चैतन्य वस्तु का त्रिकाल में आस्वादन करता है जो सहज ही उपजा है, अखंड धारा प्रवाह रूप है और बिना उपाय किए ऐसी ही वस्तु है। सम्यक्दृष्टि जीव विचारता है कि शुद्ध चैतन्य जिसका लक्षण कहा है उसका अकस्मात् एक वस्तु में अन्य वस्तु होना है ही नहीं। इसलिए सम्यक्दृष्टि जीव को अकस्मात् अनिष्ट हो जाने का भय कहां से होगा ? अपितु नहीं होगा। शुद्ध जीव वस्तु अपने सहज भाव में जितनी है उतनी है, जैसी है वैसी है। जितनी भी अतीत, अनागत, वर्तमान काल गोचर है उसमें निश्चय से ऐसी ही है। शुद्ध वस्तु में और कैसा भी स्वरूप नहीं होता है। ज्ञान विकल्प से रहित है, उसका न आदि है न अन्त है, वह अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता और निष्पन्न है ॥२८॥

छप्पै—शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल स्वरूप मम।
चिदविलास परकास, वीत विकलप सुख थानक।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक।
जब यह विचार उपजंत तब, अकस्मात भय नहि उदित।
ज्ञानी निशंक निकलंक निज, ज्ञानरूप निरखंत नित ॥२८॥

मंदाक्रांता।

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक् कर्म्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥२९॥

अतः, जिस जीव ने शुद्ध रूप परिणमन किया है उसमें विद्यमान जो निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, तथा प्रभावनांग ये आठ गुण हैं वे ज्ञानवरणादि अष्ट प्रकार के पुद्गल द्रव्यों के परिणमन का हनन कर देते है।

भावार्थ—सम्यक्दृष्टि जीव के जो भी कोई गुण हैं वे सब शुद्ध परिणमन रूप हैं इसलिए उनसे कर्म की निर्जरा है। इसलिए सम्यक्दृष्टि

जीव के शुद्ध परिणाम के होते हुए ज्ञानावरणादि कर्म का सूक्ष्म मात्र भी बंध कभी नहीं है। सम्यक्त्व के उपजने से पहले अपने अज्ञान परिणामों के द्वारा जो कर्म बांधे थे उन ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय को भोगता है। ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव के निश्चय ही ज्ञानावरणादि कर्म गलते हैं। सम्यक्दृष्टि जीव वह है जो उस जीवद्रव्य का अनुभव करने में समर्थ है जो "स्व"-"पर" ग्राहक शक्ति से युक्त है सम्पूर्ण सपूर्ण है, और प्रकाश गुण ही जिसका आदि मूल है। ऐसा जो सम्यक्दृष्टि जीव है उसके नए कर्मों का बन्ध नहीं है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा है ॥२६॥

छप्पै—जो परगुण त्यागन्त, शुद्ध निज गुण गहंत ध्रुव।
विमल ज्ञान अंकूर, जास घट मांहि प्रकाश हुव॥
जो पूरब कृतकर्म, निर्जरा धारि बढ़ावत।
जो नव-बन्ध निरोधि मोक्ष मारग मुख धावत॥
निःशंकितादि जस अष्ट गुण, अष्ट कर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचक्षण तासु पद, बनारसी वन्दन करत ॥२६॥

मंदाक्रांता

रुन्धन्बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥३०॥

जो जीव शुद्ध स्वभावरूप परिणमा है वह ज्ञान स्वरूप होकर अपने उस शुद्ध स्वरूप में परिणमन करता है जो अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल में शाश्वत प्रगट है। वह जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है जहां ज्ञान मात्र वस्तु ही दिखाई पड़ती है। अनाकुलत्व लक्षण से युक्त अतीन्द्रिय सुख को पाकर, जो ज्ञानवरणादि रूप पुद्गल पिण्ड हैं और जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं उनको मेटता हुआ सम्यक्दृष्टि जीव धाराप्रवाहरूप परिणमन करता है। वह अपने ही निःशंकित, निःकांक्षित इत्यादि जो आठ अंग कहे है और सम्यक्त्व के सारगुण हैं उन्हीं भावों में परिणमन करता है। ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव का दूसरा काम यह भी होता है कि वह पूर्वबद्ध जो ज्ञानावरणादि कर्मों का पुद्गल पिण्ड है

उसकी सत्ता को (शुद्ध परिणामों के प्रगट होने से) मूल से नाश करता है ॥३०॥

सवैया—पूर्व बन्ध नाशै सो तो संगीत कला प्रकाशै,
नवबन्ध रोधि ताल तोरत उछारिकै।
निशंकित आदि अष्टअंग संग-सखा जोरि,
समता अलाप चारि करै स्वर भरिकै ॥
निर्जरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यो महानन्द में समाधि रीझि करिकै।
सत्ता रंगभूमि में मुकत भयो तिहूं काल,
नाचै शुद्धदृष्टि नट ज्ञान स्वांग धरिकै ॥३०॥

॥ इति सप्तम अध्याय: ॥

अष्टम अध्याय

बन्ध-अधिकार

शार्दूलविक्रीडित

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१॥

अब उस शुद्ध जीव का स्वरूप कहते है जो अतीन्द्रिय सुखरूप है, जिसकी अमृत के समान अपूर्व लब्धि है, जो निरन्तर आस्वादनशील है, स्पष्ट अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है, अविनश्वर सत्ता रूप है, जिसका धाराप्रवाह रूप परिणमन स्वभाव है, जो सब दुःखों से रहित है और जो समस्त कर्मों की उपाधि से रहित है। वह शुद्ध ज्ञान उन ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध को मेट कर प्रगट होता है जो कर्म संसार में गर्जन करते और क्रीड़ा करते दिखाई पड़ते हैं। उस कर्मों के बन्ध ने अहंकार के द्वारा समस्त जीव राशि को अपने वश में किया और वह अनंतकाल से इस संसाररूपी अखाड़े में सारे संसार की जीवराशि को शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट करके उसकी राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणति में प्रगट हो रहा है—संसार की समस्त जीवराशि को अत्यन्त अधिक मोहरूपी मदिरापान करा रहा है।

भावार्थ—जैसे कोई किसी जीव को मदिरा पिला कर विकल (बेहोश) करे और उसका सर्वस्व छीन ले, पद से भ्रष्ट कर दे उसी प्रकार अनादि से लेकर सब जीवराशि राग-द्वेष-मोह के अशुद्ध परिणामों में मतवाली हो रही है जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है। ऐसे बन्ध को शुद्ध ज्ञान का अनुभव मेटने वाला है इसलिए शुद्ध ज्ञान उपादेय है ॥१॥

सवैया—मोह मद पाइ जिन्हें संसारी विकल कीने,
याहीतें अजानवान विरुद कहत है।
ऐसो बंधवीर विकराल महा जाल सम,
ज्ञान मन्द करै चन्द राहु ज्यों गहत है॥
ताको बल भंजिवे को घट में प्रगट भयो,
उद्धत उदार जाको उद्यम महत है।
सोहै समकित सूर आनन्द अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहत है॥१॥

स्रग्धरा

न कर्म्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२॥

जो चेतनागुण है वही मन वस्तु है। राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणामों से एकपना उसको उसरूप (बंधरूप) परिणमाता है। यह अशुद्ध परिणामों के साथ एकपना अन्य किसी की सहाय बिना, निश्चय से समस्त संसारी जीव राशि को ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का कारण होता है।

प्रश्न—बन्ध का कारण इतना ही है या और भी कुछ बन्ध का कारण है?

समाधान—बन्ध का कारण इतना ही है और कुछ नहीं है।

प्रश्न—ज्ञानावरणादि कर्मरूप बधने के योग्य तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण लोककाश के प्रदेशों में घड़े में घी की भांति भरी हुई जो कार्माण वर्गणा है क्या वह भी बन्ध की कर्ता नहीं है? समाधान यदि रागादि अशुद्ध परिणाम बिना कार्माण वर्गणा मात्र से बन्ध होता तो जो मुक्त जीव हैं उनके भी बन्ध होता।

प्रश्न—जो रागादि परिणाम है तो ज्ञानवरणादि कर्मों का बन्ध है तो क्या कार्माण वर्गणा की सामर्थ्य कुछ नहीं है?

समाधान—यदि रागादि अशुद्ध भाव नहीं है तो फिर कार्माण वर्गणा की सामर्थ्य कुछ नहीं है।

प्रश्न—क्या मन-वचन-काय के योग भी बन्ध के कर्त्ता नहीं हैं ?

समाधान—यदि मन-वचन-काय के योग बन्ध के कर्त्ता होते तो तेरहवें गुणस्थान में जहां मन-वचन-काय का योग है वहां भी कर्म का बन्ध होता।

प्रश्न—यदि रागादि अशुद्ध भाव हैं तो कर्मों का बन्ध है तो क्या मन-वचन-काय के योग की सामर्थ्य कुछ नहीं है ?

समाधान रागादि अशुद्धभाव नहीं है तो कर्म का बन्ध नहीं है. इसलिये मन-वचन-काय के योग की सामर्थ्य कुछ नहीं है।

प्रश्न—पांच इन्द्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—और छठा मन ये सब भी क्या बन्ध के कर्त्ता नहीं हैं ?

समाधान—सम्यक्दृष्टि जीव के पांच इन्द्रियां हैं, मन भी है और इनके द्वारा वह पुद्गल द्रव्य के गुणों का जानने वाला भी है। यदि पांच इन्द्रियां व मन मात्र से कर्म का बन्ध होता तो सम्यक्दृष्टि जीव के भी बन्ध सिद्ध होता। इसलिए अगर रागादि अशुद्धभाव है तो कर्मों का बन्ध है।

प्रश्न—तो क्या पांच इन्द्रियां व छठे मन की सामर्थ्य कुछ नहीं है ?

समाधानः—यदि रागादि अशुद्ध भाव नहीं है तो कर्म का बन्ध नहीं है इसलिये पांच इन्द्रियों व छठे मन की सामर्थ्य कुछ नहीं है।

प्रश्न—जीव के संबंध वाले एकेन्द्री आदि शरीर और जीव के संबंध से रहित पाषाण, लोहा, मिट्टी, का मूल से विनाश होना अथवा उनको पीड़ा पहुंचाना भी बन्ध के करने वाले नहीं हैं ?

समाधान—महामुनीश्वर भावीसमिति मार्ग चलते हैं और दैव संयोग से सूक्ष्म जीवों को बाधा होती है। तो यदि जीव के घात होने मात्र से बन्ध होता तो ऐसे मुनीश्वर के भी बन्ध होता। इसलिए रागादि अशुद्ध परिणाम हैं तो कर्म का बन्ध है मात्र जीव घात की सामर्थ्य कुछ नहीं है ॥२॥

सवैया—कर्मजाल वर्गणासों जग में न बंधे जीव,
बंधे न कदापि मन-वच-काय जोग सों।
चेतन अचेतन की हिंसा सों न बंधे जीव,
बंधे न अलख पंच विषै विष रोगसों ॥
कर्मसों अबंध सिद्ध जोगसों अबंध जिन,
हिंसासों अबंध साधु ज्ञाता विषै भोग सों।
इत्यादिक वस्तु के मिलापसों न बंधे जीव,
बंधे एक रागादि अशुद्ध उपयोग सों ॥२॥

शार्दूलविक्रीडित

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवेत् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥३॥

हे भव्य जीव ! विभाव परिणामों के उपयोग रहित अथवा चेतनमात्र-गुण रूप परिणमता हुआ शुद्ध स्वरूप का अनुभवनशील सम्यक्दृष्टि जीव भोग सामग्री को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ अवश्य निश्चय से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध नहीं करता है। वह तो मात्र ज्ञान स्वरूप रहता है।

भावार्थ – सम्यक्दृष्टि जीव के बाहरी या भीतरी सामग्री जैसी थी वैसी ही है परन्तु रागादि अशुद्ध रूप विभाव परिणति नहीं है इसलिए उसके ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध नहीं है। जो समस्त लोकाकाश कार्माण वर्गणा से भरा हुआ है सो जैसा था वैसा ही रहे। आत्म प्रदेशों के कम्पन से उत्पन्न मन, वचन, काय के तीन योग भी जैसे के तैसे ही रहें तथापि कर्मों का बन्ध नहीं है क्योंकि राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणाम चले गए हैं। पांच इन्द्रियां तथा मन भी जैसे हैं वैसे ही रहें और पूर्वोक्त चेतन व अचेतन के घात भी जैसे थे वैसे ही रहे तथापि शुद्ध परिणाम होने से कर्मों का बन्ध नहीं है ॥३॥

सवैया कर्मजाल वर्गणा को वास लोकाकाश माँहि,
मन वच काय को निवास गति-आउ में।
चेतन अचेतन की हिंसा बसे पुद्गल में,
विषं-भोग बरते उदैके उरझाउ में॥
रागादिक शुद्धता अशुद्धता है अलख की,
यहै उपादान हेतु बन्ध के बढ़ाव में।
याही ते विचक्षण अबंध कह्यो तिहूं काल,
राग-द्वेष-मोह नाहि सम्यक् स्वभाव में ॥३॥

शार्दूलविक्रीडित

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।

अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ॥४॥

तथापि कार्माण वर्गणा, मन-वचन-काय के योग, पांचों इन्द्रिया और मन, जीव का घात, इत्यादि बाहरी सामग्री कर्मों को बांधने के लिए कारण नहीं हैं। कर्मों को बांधने का कारण तो रागादि का अशुद्धपना है वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। तो फिर भी, जब शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव ने प्रमादी होकर विषयभोग किया तो किया ही। जीव का घात यदि हुआ तो हुआ हो। मन-वचन-काय को जानबूझ कर निरंकुश प्रवृत्ति हुई। तब भी उसको कर्म का बन्ध नहीं है ऐसा तो गणधरदेव नहीं मानते हैं। क्योंकि बुद्धिपूर्वक, जानबूझ कर, अन्तरंग की रुचि पूर्वक विषय-कषाय में निरंकुश आचरण निश्चय से, अवश्य ही, मिथ्यात्व रागद्वेष रूप अशुद्ध भावों को लिए हुए है, इसलिए कर्म बंध का कारण है।

भावार्थ—ऐसी स्थिति के भाव मिथ्यादृष्टि जीव के होते हैं सो मिथ्यादृष्टि तो कर्मों का कर्त्ता है ही। सम्यग्दृष्टि जीव जो कुछ पूर्व में बंध कर्मों के उदयवश करता है सो सब अवांछित क्रिया रूप है इसलिए कर्म-बंध का कारण नहीं है ऐसा गणधरदेव ने माना है और ऐसा ही है। कोई कहे कि भोग सामग्री मिलती तो कर्मों के उदय से है परन्तु मिली हुई भोग सामग्री मेरे अन्तर में सुहावनी लगती है और ऐसा भी है कि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है और समस्त कर्मजनित सामग्री को हेय जानता हूं। ऐसा कोई कहता है तो वह झूठा है। क्योंकि ज्ञाता भी हो और वांछक भी हो ऐसी दो क्रियाएं विरुद्ध नहीं हैं क्या ? अर्थात् सर्वथा विरुद्ध हैं ॥४॥

सवैया—कर्मजाल जोग हिंसा भोगसों न बंधै पै,
तथापि ज्ञाता उद्यमी बखान्यो जिन बैन में।
ज्ञानदृष्टि देत बिषै-भोगिन सों हेत दोऊ,
क्रिया एक खेत यों तो बनै नांहि जैन में॥

उदय बल उद्यम गहै पै फल को न चहै,
निरदै दशा न होइ हिरदैके नन में।
आलस निरुद्यमकी भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहाँ न संभारे जीव मोह-नींद सैन में॥

चौपाई—जे जिय मोह नींद में सोवें। ते आलसी निरुद्यमी होवें॥
दृष्टि खोलि जे जगे प्रवीना। तिनि आलस तजि उद्यम कीना॥४॥

वसंततिलका

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,

जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।

रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-

मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥५॥

जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है सो सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों के उदय में मिलने वाली सामग्री को अभिलाषा नहीं करता है। जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों की विचित्रता में उपलब्ध सामग्री को अपनी जानकर उसकी अभिलाषा करता है वह मिथ्यादृष्टि जीव, जीव के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव के, जीव के स्वरूप का जानना नहीं घटित होता। जब ऐसा ही वस्तु का निश्चय है तो यह जो कहा है कि मिथ्यादृष्टि कर्ता है—सो वह कर्ता क्या है? वास्तव में जो कर्मों से प्राप्त सामग्री में अभिलाषारूप चिकना परिणाम है वही कर्म-जनित सामग्री का कर्तापना है। कोई माने कि कर्म-जनित सामग्री में अभिलाषा हुई तो क्या और न हुई तो क्या। सो ऐसा नहीं है—अभिलाषा मात्र पूरा मिथ्यात्व परिणाम है—ऐसा कहा है। वस्तुस्थिति ऐसी है कि केवल परद्रव्य सामग्री में अभिलाषा मात्र मिथ्यात्व परिणाम है ऐसा गणधरदेव ने कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव के कर्म-जनित सामग्री में राग अवश्य ही होता है। सम्यक्दृष्टि जीव के निश्चय ही नहीं होता। वही राग परिणाम कर्मों के बन्ध का कारण होता है। भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों का बन्ध करता है—सम्यक्दृष्टि जीव नहीं करता ॥५॥

सवैया—जब लगि जीव शुद्ध वस्तु को विचारे ध्यावे,
तब लग भोगसों उदासी सरवंग है।
भोग में मगन तब ज्ञानकी जगन नाहि,
भोग अभिलाषकी दशा मिथ्यात अंग है॥
तातें विषै भोगमें मगनसों मिथ्याति जीव,
भोगसों उदाससो समकिति अभंग है।
ऐसे जानि भोगसों उदास ह्वै मुकति साधे,
यहै मन चंग तो कठौतो मांहि गंग है॥५॥

वसंततिलका

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरण-जीवितदुःख-सौख्यम् ।।६।।

मिथ्यात्व परिणाम का एक अंग दिखाते हैं—ऐसा भाव मिथ्यात्व होने पर होता है कि कोई पुरुष किसी अन्य पुरुष का प्राणघात करता है या उसकी प्राणरक्षा करता है अथवा किसी को अनिष्ट का संयोग कराता (दुःख देता) है या सुख की प्राप्ति कराता है।

भावार्थ—अज्ञानी लोगों में ऐसा कहावत है कि अमुक जीव ने उस जीव को मारा, अमुक जीव ने उस जीव को जिलाया, उस जीव ने उस जीव को सुखी किया, उस जीव को दुःखी किया। ऐसी प्रतीति जिस जीव को होती है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, निःसंदेहरूप से जान लो। इसमें कोई धोखा नहीं है। जो समस्त जीव राशि को प्राणघात, प्राण-रक्षा, इष्ट या अनिष्ट संयोग होता है, वह सबका काल में होता है ये सब निश्चय ही उसके आयुकर्म अथवा सातावकर्म अथवा असाता-कर्म के उदय से होता है जिनको जीव ने अपने विशुद्ध अथवा संक्लेशरूप परिणामों से पहले बांधा था। उन्हीं कर्मों के उदय से जीव का मरण अथवा जीवन अथवा दुःख अथवा सुख होता है, ऐसा निश्चय है। इस बात में कोई धोखा नहीं है। भावार्थ—कोई जीव किसी जीव को न मारने में समर्थ है और न जिलाने में समर्थ है। सुखी-दुःखी करने में भी समर्थ नहीं है।।६।।

सवैया—**तिहुं लोक मांहि तिहुं काल सब जीवनिको,**
पूरब करम उदै आय रस देत है।
कोऊ दीरघाऊ धरै कोऊ अल्पाऊ मरै,
कोऊ दुखी कोऊ सुखी कोऊ समचेत है।
याहि मैं जियाऊं, याहि मारूं, याहि सुखी करूं,
याहि दुखी करूं ऐसे मूढ़ मान लेत है।
याही अहं बुद्धिसों न बिनसे भरम भूल,
यहै मिथ्या भरम करम-बन्ध हेत है ।।६।।

वसंततिलका

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्म्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥

जो कोई अज्ञानी जीवराशि, मिथ्यात्वरूप अशुद्ध परिणामों के कारण तथा अशुद्धपने के कारण अन्य जीव से अन्य जीव का मरना-जीना, दुःख-सुख मानते हैं वे निश्चय से सब प्रकार से मिथ्यादृष्टि (जीव) राशि हैं। उस मिथ्यादृष्टि जीव राशि की कर्म जनित पर्यायों में ऐसी आत्मबुद्धि है कि मैं देव हूं, मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं। कर्मों के उदय से होने वाली जितनी क्रियाएं हैं उनमें ऐसे मगन हो रहे हैं कि मैं करने वाला हूं, मैंने किया है— ऐसा अज्ञान के कारण मानते हैं। ऐसी मिथ्यादृष्टि जीव राशि अपना घात करने वाली है ॥७॥

सवैया—जहांलो जगतके निवासी जीव जगत में,
सबै असहाय कोउ काहूको न धनी है ।
जैसी-जैसी पूरब करम सत्ता बांधि जिन्ह,
तैसी-तैसी उदैमें अवस्था आइ बनी है ॥
एते परि जो कोऊ कहै कि मैं जियाऊं मारूं,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है ।
सोतो अहं बुद्धिसों विकल भयो तिहुंकाल,
डोलै निज आतम सकति तिन्ह हनी है ॥७॥

अनुष्टुप्

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्य्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥८॥

मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्वरूप ऐसे परिणाम होते हैं कि उसने इतने जीव जिलाए, यह भाव ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध के कारण होते हैं। इसलिए ऐसे परिणाम मिथ्यात्वरूप ही हैं। जिसके ऐसे परिणाम हों कि इसको मारूं, इसको जिलाऊं ऐसे जीव का मिथ्यात्वमय स्वरूप देखा जाता है ॥८॥

चौपाई—मैं करता मैं कीन्हीं कैसी । अब यों करों कहे जो ऐसी ।
ए विपरीत भाव हैं जामें । सो बरते मिथ्यात्व दसामें ॥८॥

अनुष्टुप्

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किञ्चनापि नैवाऽस्ति नात्माऽऽत्मानं करोति यत् ॥९॥

मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपको अपने रूप अनुभव न करके जैसी पर्याय है वैसा ही विकल्प करता है। परन्तु वैसा तो तीनों लोक में है ही नहीं।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव जैसी पर्याय धारण करता है वैसे ही भावों में परिणमन करता है और उस सब को अपना आपा जान कर अनुभव करता है। कर्म के स्वरूप को जीव के स्वरूप से भिन्न नही जानता है—एक रूप अनुभव करता है। इसको मारू, इसको जिलाऊ, इसे मैंने मारा, इसे मैंने जिलाया, इसे मैंने सुखी किया, इसे मैंने दुखी किया—इस तरह के परिणामों में मतवाला हो रहा है, जो सब झूठे हैं। भावार्थ—यद्यपि मारा कहता है, जिलाया कहता है परन्तु वह सब कर्म के उदय के हाथ है उसके परिणामों की सामर्थ्य नहीं है। यह अपने अज्ञानपने के वश अनेक झूठ विकल्प करता है ॥९॥

दोहा—अहंबुद्धि मिथ्यादशा, धरै सो मिथ्यावंत ।
विकल भयो संसार में, करै विलाप अनंत ॥९॥

श्लोक

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०॥

मिथ्यात्व ही जिनका मूल कारण है ऐसे मिथ्यात्वरूप परिणाम (कि इसको मारूं, उसको जिलाऊं) जिसके सूक्ष्मरूप में और या स्थूलरूप में नहीं होते वही यतीश्वर (मुनिराज) है। मिथ्यात्व परिणाम से ही जीव अपने आपको 'मैं देव, मैं मनुष्य, मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि नाना रूपों में अनुभव करता है यद्यपि वह कर्मों के उदय से होने वाली समस्त पर्यायों से भिन्न है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय में रत (मग्न) है इसलिए पर्याय

को अपना आप मान कर अनुभव करता है। ऐसा मिथ्यात्व भाव छूटने पर ज्ञानी भी सच्चा है और आचरण भी सच्चा है ॥१०॥

अडिल्ल—सदा मोह सो भिन्न, सहज चेतन कह्यो।
मोह विकलता मानि, मिथ्यात्वी ह्वै रह्यो।
करै विकल्प अनन्त, अहंमति धारिकै।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्व निवारिकै ॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यग्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥११॥

सम्यग्दृष्टि जीव राशि अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूप में स्थिर होता हुआ क्यों न सुख को करे ? अपितु सर्वथा करता है। क्योंकि निज महिमा (रागादि से रहित) चेतनागुण का समूह है। निर्विकल्प वस्तु मात्र अनुभव गोचर है सभी उपाधियों से रहित है। इसलिए 'मैं मारूं, मैं जिलाऊं, मैं दुःखी करूं, मैं सुखी करूं, मैं मनुष्य हूं' इत्यादि जितने भी मिथ्यात्वरूप असंख्यात लोक मात्र परिणाम हैं वे सब हेय हैं और मिथ्यात्व भाव के होने से हुए हैं, ऐसा साक्षात् विराजमान केवलज्ञानी परमात्मा ने कहा है। जितने भी सत्यरूप अथवा असत्यरूप, शुद्ध स्वरूप मात्र से विपरीत, मन-वचन-काय के विकल्प हैं उनको सब प्रकार से छोड़ो।

भावार्थ—जिसके पीछे कहे गये मिथ्याभाव छूटे उसका समस्त व्यवहार छूटता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक ही वस्तु है। व्यवहार वही है जिसका विपरीतपना ही अलम्बन है ॥११॥

सवैया—असंख्यात लोक परमान जे मिथ्यात्व भाव,
तेई व्यवहार भाव केवली उकत हैं।
जिन्हके मिथ्यात्व गयो सम्यक्दरस भयो,
ते नियत लीन व्यवहारसौं मुकत हैं॥
निरविकल निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुण मोक्ष पंथकौं ढुकत हैं।

तेई जीव परम दशा में थिर रूप ह्वै के,
धरममें ढुके न करमसों रुकत हैं ॥११॥

उपजाति

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१२॥

किसी ने विनम्र होकर यह प्रश्न पूछा है कि हे स्वामिन् ! राग-द्वेष-मोह इत्यादि असंख्यात लोक मात्र विभाव परिणाम अशुद्ध चेतनारूप है और ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध के कारण है ऐसा कहा, सुना, जाना और माना। शुद्ध ज्ञान तो चेतनामात्र है। ज्योतिस्वरूप जीव वस्तु उन विभाव परिणामों से अतिरिक्त है, अलग है। तो मैं पूछना चाहता हू कि उन राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणामों का करने वाला कौन है—जीव द्रव्य करने वाला है या मोहरूपकर्म ने परिणमन किया है ? अथवा पुद्गल द्रव्य का पिंड उनका करने वाला है ? इस प्रश्न का ग्रथ के कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते है ॥१२॥

कवित्त—जे जे मोह कर्म की परिणति, बंध निदान कही तुम सब्ब ।
संतत भिन्न शुद्ध चेतनसों, तिन्हको मूल हेतु कहु अब्ब ॥
कै यह सहज जीव को कौतुक, कै निमित्त है पुद्गल दब्ब ।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत, कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब ॥१२॥

उपजाति

न जातुरागादिनिमित्तभाव-मात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१३॥

पीछे जो प्रश्न किया था उसका उत्तर इस प्रकार है आत्मा किसी भी काल में अपने आप में राग-द्वेष-मोह आदि अशुद्ध परिणामों का कारण-रूप परिणमन नहीं करता—ऐसा वस्तु का स्वभाव सर्व काल प्रगट है।

भावार्थ—द्रव्य के परिणामों का कारण दो प्रकार है : एक उपादान कारण है और एक निमित्त कारण है। उपादान कारण अर्थात् द्रव्य में अन्त-र्गभित जो अपने परिणाम से पर्यायरूप परिणमन की शक्ति है वह तो उस द्रव्य की उसी द्रव्य में होती है। यह निश्चय है। अन्य द्रव्य का संयोग पाकर अथवा उसके निमित्त कारण से जो द्रव्य अपने पर्यायरूप परिणमन करता है

वह परिणमन जिस द्रव्य का है उसी द्रव्य में होता है किसी अन्य द्रव्य द्वारा ग्राह्य नहीं— यह निश्चय है। जैसे मिट्टी घटरूप परिणमती है। घट की उपादान कारण मिट्टी में घटरूप परिणमन करने की शक्ति है। बाहरी निमित्त कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि कारण हैं। उसी प्रकार जो जीवद्रव्य अशुद्ध परिणामों— मोह-राग-द्वेष इत्यादि - में परिणमन करता है उसका उपादान कारण है जीव द्रव्य में अन्तर्गभित विभावरूप परिणमन करने की शक्ति, निमित्त कारण है दर्शनमोह और चारित्रमोह जो पुद्गल द्रव्य के पिण्ड जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह से कर्मरूप बन्धे है उनका उदय। यद्यपि मोह कर्मरूप पुद्गल पिंड का उदय अपने निज द्रव्य में व्याप्य-व्यापकरूप है, वह जीव द्रव्य में व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है। तथापि मोहकर्म के उदय होने पर जीव द्रव्य अपने विभाव परिणामरूप परिणमता है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, उसमें किसका चारा है। उदाहरणार्थ— जैसे स्फटिकमणि की कांति लाल, पीली, काली इत्यादि अनेक छवियों में परिणमन करती है उसका उपादान कारण तो है स्फटिकमणि में अन्तर्गभित नाना रूपों में परिणमन करने की शक्ति और निमित्त कारण है नाना रंगों के द्रव्य का संयोग ॥१३॥

सवैया—जैसे नाना वरण पुरी बनाइ दीजे हेठ,
उज्जल विमल मणि सूरज करांति है।
उज्जलता भासे जब वस्तुको विचार कीजे,
पुरीकी झलकसों वरण भांति-भांति है॥
तैसे जीव दरब को पुद्गल निमित्तरूप,
ताकी ममता सों मोह मदिरा की भांति है।
भेद-ज्ञान दृष्टिसों स्वभाव साधि लीजे तहां,
सांचो शुद्ध चेतना अवाचि सुखशांति है॥१३॥

अनुष्टुप

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥१४॥

सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्य का स्वभाव पहले कहे अनुसार मानता है और अपने शुद्ध चैतन्य का आस्वादरूप अनुभव करता है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभव नहीं करता कि राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम जीव

द्रव्य के स्वरूप हैं और इसीलिए रागादि अशुद्ध परिणामों का कर्त्ता नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्ध परिणामों का स्वामित्व-पना नहीं है इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव कर्त्ता नहीं है ॥१४॥

चौपाई—इह विधि वस्तु व्यवस्था जाने। रागादिक निज रूप न माने ॥
ताते ज्ञानवंत जग मांही। करमबंध को करता नांही ॥१४॥

शार्दूलविक्रीडित

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतम्
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्माऽऽत्मनि स्फूर्जति ॥१५॥

प्रत्यक्ष है कि जो जीव द्रव्य अनादिकाल से निज स्वरूप से भ्रष्ट हो रहा था उसने उपरोक्त अनुक्रम से अपने स्वरूप को प्राप्त किया। स्वरूप की प्राप्ति होने पर उसका पर द्रव्य से सम्बन्ध छूटा—मात्र अपने आपसे सम्बन्ध रहा। उसने ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के पिंड को मूल सत्ता से दूर कर दिया। वह ज्ञान स्वरूप है, अनंत शक्ति का पुंज है और उसी रूप निरन्तर परिणमन करता है और विशुद्ध ज्ञान से युक्त शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है। ऐसा जिस आत्मा का स्वरूप कहा है उसका अभिप्राय राग-द्वेष-मोह आदि अनेक प्रकार के अशुद्ध परिणामों तथा उनके बहुविध भावों की उस परम्परा को जिसका मूल कारण पर-द्रव्य में स्वामित्वपना है; एक ही समय में उखाड़ कर दूर करना है। निश्चय ही उसने ज्ञान के बल से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप जितनी भी पुद्गल द्रव्य की विचित्र परिणतियां हैं उन सबको पूर्वोक्त प्रकार से विचार करके ज्ञान स्वरूप से भिन्न किया है।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप उपादेय है, अन्य समस्त पर द्रव्य हेय है ॥१५॥

सवैया—ज्ञानी भेदज्ञानसौं विलेछि पुद्गल कर्म,
आतमीक धर्मसौं निरालो करि मानतो ।
ताको मूल कारण अशुद्ध-राग-भाव ताके,
नासिबेकौं शुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतो ॥

याही अनुक्रम पररूप संबंध त्यागि,
आपमांहि आपनो स्वभाव गहि आनतो।
साधि शिवचाल निरबंध होत तिहूंकाल,
केवल विलोक पाइ लोकालोक जानतो ॥१५॥

मंदाक्रांता।

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्य्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्-
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१६॥

शुद्ध चैतन्य वस्तु स्वानुभवगोचर है। अपने बल पराक्रम से ही (शुद्ध) प्रगट हुई है। शुद्ध ज्ञान का लोक तथा अलोक सम्बन्धी समस्त ज्ञेय वस्तुओं को जानने का विस्तार है उसको कोई भी अन्य दूसरा द्रव्य नहीं मिटा सकता।

भावार्थ- जीव का स्वभाव केवलज्ञान-केवलदर्शन है परन्तु वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध से आच्छादित है। वह आवरण शुद्ध परिणामों से मिटता है और वस्तु स्वरूप प्रकट होता है। जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों का विनाश किया है ऐसा जीव सब तरह के उपद्रवों से रहित है। वह जीव जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम बन्ध के कारण हैं उनको निर्दयता से उखाड़ता हुआ ऐसा होता है। रागादि अशुद्ध परिणामों के होने से जो पुद्गल कर्मों का धारा प्रवाहरूप बंध होता है वह जिस समय मिटते हैं उस समय असंख्यात लोक मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि कर्म भी मिट जाते हैं ॥१६॥

सवैया- जैसे कोउ मनुष्य अजान महा बलवान,
खोदि मूल वृक्ष को उखारै गहि बाहुसों।
तैसे मतिमान द्रव्यकर्म भावकर्म त्यागि,
ह्वै रहे अतीत मति ज्ञानकी दशाहूसों॥
याहि क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहु सों।
चुकै न सकतिसों लुकै न पुद्गल मांहि,
धुकै मोक्ष थलको, रुकै न फिरि काहूसों ॥१६॥

॥ इति अष्टम अध्यायः ॥

नवम अध्याय

मोक्ष-अधिकार

शिखरिणी

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतं।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१॥

अब यहां से समस्त आवरण का विनाश करती हुई शुद्ध (चैतन्य) वस्तु प्रकाशमान होती है, जो आगामी अनन्तकाल तक इसी रूप रहती है, अन्यथा नहीं होती है। उस शुद्ध ज्ञान ने करने योग्य समस्त कर्मों का विनाश किया है और अनादिकाल से वह छिपा हुआ था—अब प्रकट हुआ है, सहज परमानन्दरूप द्रव्य के स्व-स्वभाव में परिणमन कर रहा है तथा अनाकुलता लक्षणयुक्त अतीन्द्रिय सुख से संयुक्त है।

भावार्थ—मोक्ष का फल अतीन्द्रिय सुख है। सकल कर्म का विनाश होने से शुद्धत्व अवस्था में परिणमन करके ज्ञान प्रकट होता है। भावार्थ—यहां से सकल कर्मों के क्षय लक्षण वाले मोक्ष का स्वरूप कहा जाता है। वह शुद्ध ज्ञान उत्कृष्ट है और एक निश्चय स्वभाव को प्राप्त है एवं वह भेदज्ञान प्रतीति के द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रश्न—शुद्ध जीव द्रव्य को ऐसी भेदज्ञान प्रतीति कैसे होती है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म की उपाधि हैं तथा सभी बंध हेय हैं और शुद्ध जीव उपादेय है?

उत्तर—वह तब होती है जब आगे की तरह भेदज्ञान के द्वारा ऐसा निरन्तर अभ्यास करे कि शुद्ध ज्ञान मात्र जीव द्रव्य है तथा रागादि उपाधियां व बंध अशुद्ध वस्तु भिन्न हैं।

भावार्थ—जैसे आरे के बारम्बार चलने से काठ जैसी पुद्गल वस्तु के दो खण्ड हो जाते हैं उसी प्रकार भेदज्ञान के द्वारा बार-बार जीव तथा पुद्गल का भिन्न-भिन्न अनुभव करने से वे भिन्न होते हैं। इसलिए भेदज्ञान उपादेय है ॥१॥

दोहा—बंध द्वार पूरण भयो, जो दुःख दोष निदान।
अब बरणं संक्षेप सों, मोक्षद्वार सुखथान ॥

सवैया—भेदज्ञान आरासों दुफारा करै ज्ञानी जीव।
आतम करम धारा भिन्न-भिन्न चरचै।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमको खजानो खोलि खरचै ॥
यौंही मोक्ष मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरण समाधि लहै परमको परचै।
भयो निरदौर याहि करनो न कछु और,
ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचै ॥१॥

स्रग्धरा

प्रज्ञाच्छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥

'जीवद्रव्य तथा कर्मपर्यायरूप परिणमित हुआ पुद्गल द्रव्य का पिंड—इन दोनों का एक बंध-पर्यायरूप सम्बन्ध अनादिकाल से चला आया है। सो जीव द्रव्य अपने शुद्ध स्वरूप में परिणमन करे, अनंत-चतुष्टय में परिणमित हो एवं पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मों की पर्याय को छोड़े, जीव के प्रदेशों से सर्वथा अबंधरूप होकर यह सम्बन्ध छोड़े अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हो जाएँ, उसी का नाम मोक्ष है ऐसा कहा है। इस भिन्न-भिन्न होने का कारण मोह-राग-द्वेष इत्यादि विभावरूप अशुद्ध परिणति को मिटा कर जीव का शुद्धत्वरूप परिणमन करना है। विवरण—शुद्धत्व परिणमन सर्वथा सभी कर्मों के क्षय करने का कारण है। ऐसा शुद्धत्व परिणमन सर्वथा द्रव्य का स्वभाव में परिणमन रूप है, निर्विकल्परूप है और इसलिए शब्दों में कह सकने की सामर्थ्य नहीं है। इस कारण इस रूप में कहते हैं—जो

ज्ञानगुण जीव को शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमन करवाता है वह मोक्ष का कारण है। इसका समाधान यह है कि जीव के शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप जो ज्ञान है वह जीव के शुद्ध परिणमन को सर्वथा लिए है अर्थात् जिसका शुद्धरूप परिणमन होता है उस जीव को शुद्ध स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है— इसमें धोखा नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार से अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है। यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव जो नाना प्रकार के विकल्प करते हैं उनका समाधान इस प्रकार करते हैं। कोई कहता है कि जीव का स्वरूप और बन्ध का स्वरूप जान लिया तो मोक्षमार्ग हो गया, कोई कहता है कि बन्ध के स्वरूप को जान कर ऐसा चिंतवन करे कि बन्ध कब मिटेगा, कैसे मिटेगा, ऐसी चिंता ही मोक्ष का कारण है। ऐसा कहने वाले जीव झूठे हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। वस्तु स्वरूप ऐसा ही है कि जीव का ज्ञान गुण ही वह छैनी है जिसके द्वारा वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भिन्न अनुभव करके उसी रूप परिणमन करने में समर्थ है।

भावार्थ सामान्यतः दो का छेद तो छैनी के द्वारा ही होता है। यहाँ भी जीव और कर्म दो का छेद किया है वह दो-रूप छेद करने तथा स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ ज्ञानरूप छैनी है। और तो कोई दूसरा कारण न हुआ है और न होगा। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर और मिथ्यात्व कर्म का नाश होने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अत्यन्त पैठ जाने की जिसकी सामर्थ्य है वह प्रज्ञा (ज्ञान) छैनी, यद्यपि चेतना मात्र तथा द्रव्य कर्मों के पुद्गल पिण्ड यानी मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति दोनों मिल कर एक क्षेत्रावगाह हैं, बंध पर्यायरूप हैं, अशुद्ध विकाररूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु उनमें जो संधि है—वे निसंधि नहीं हुए हैं— उसमें पैठ कर दोनों का भिन्न-भिन्न छेद करती है। भावार्थ—यद्यपि लोहे की छैनी अत्यन्त पैनी होती है तो भी संधि को देखकर उसमें देने से दो को अलग करती है। उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव का ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है इसलिए जीव और कर्म के बीच जो संधि है उसमें प्रवेश करके पहले बुद्धि में अलग कर देता है और बाद में सभी कर्मों का क्षय होने पर साक्षात् अलग-अलग कर देता है। परन्तु जीव और कर्मों के बंध में संधि बड़ी सूक्ष्म है। विवरण – द्रव्य कर्म हैं—ज्ञानावरणादि पुद्गल के पिण्ड। वह यद्यपि एक क्षेत्रावगाह हैं परन्तु ऐसा विचारने से जीव से भिन्न होने की प्रतीति होती है कि द्रव्य कर्म पुद्गल पिण्ड रूप हैं। यद्यपि वह जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप हैं तथापि (उनके तथा जीव के) भिन्न-भिन्न प्रदेश है, पुद्गल पिण्ड अचेतन हैं, बंधे भी हैं

और खुले भी हैं—शरीर-मन-वचन रूप नोकर्म से भी इसी प्रकार विचार करने में भेद की प्रतीति उपजती है। भावकर्म अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध चेतनारूप अशुद्ध परिणाम वर्तमान में जीव में एक परिणमनरूप हैं तथा अशुद्ध परिणामों में वर्तमान में जीव से एक परिणमनरूप है तथा अशुद्ध परिणामों में वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमन करता है इसलिए उन परिणामों में भिन्नपने का अनुभव कठिन है तथापि सूक्ष्म संधि का भेद मिलने पर भिन्नता की प्रतीति होती है। जैसे स्फटिक-मणि स्वरूप से स्वच्छ वस्तु हैं, लाल-काली-पीली पुरी (पूरक) का संयोग पाकर लाल-काली-पीली रूप से स्फटिकमणि झलकती है परन्तु वर्तमान में भी स्वरूप के विचार से स्फटिकमणि तो स्वच्छ मात्र ही है। लाल-काली-पीली झलक पर-संयोग की उपाधि है, स्फटिकमणि का स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार जीव द्रव्य का स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है परन्तु अनादि सन्तानरूप मोहकर्म के उदय से मोह-राग-द्वेष रूप (रंगों में) अशुद्ध चेतना में परिणमन करता है फिर भी वर्तमान में स्वरूप का विचार करें तो जीव वस्तु तो चेतना मात्र है। उसमें मोह-राग-द्वेषरूप रंग कर्मों के उदय की उपाधि है, वस्तु का स्वभाव गुण नहीं है। इस तरह विचार करने से भिन्नता की प्रतीति उपजती है जो अनुभव गोचर है। कोई पूछे कि कितने काल तक प्रज्ञा छैनी का प्रहार होने से वह जीव और कर्म का भिन्न-भिन्न करती है? उत्तर—अति सूक्ष्म काल में—एक समय में—प्रज्ञा छैनी प्रहार कर भिन्न-भिन्न करती है। आत्मानुभव में प्रवीण हैं जो सम्यक्दृष्टि जीव और जिनका काल लब्धि पाकर संसार निकट है उनके द्वारा स्वरूप में प्रज्ञा छैनी बैठाने से बैठती है। भावार्थ—भेदविज्ञान बुद्धिपूर्वक विकल्प है, ग्राह्य-ग्राहक रूप है, शुद्ध स्वरूप की भांति निर्विकल्प नहीं है इसीलिए वह उपाय-रूप है। वे सम्यक्दृष्टि जीव, जीव के स्वरूप तथा कर्म के स्वरूप के भिन्न-भिन्न विचार में जागरूक हैं, प्रमादी नहीं है और वह प्रज्ञा छैनी सभी तरह जीव और कर्म को जुदा-जुदा करती है। वह स्व और पर के स्वरूप को ग्रहण करने वाला प्रकाश गुण का जो त्रिकालगोचर प्रवाह है उसमें जीव द्रव्य को एक वस्तु रूप साधती है। भावार्थ—शुद्ध चेतना मात्र जीव का स्वरूप अनुभव गोचर होता है। रागादिपना नियम से बंध का स्वभाव है—ऐसा साधती है। भावार्थ रागादि अशुद्धपना कर्मबन्ध की उपाधि है जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा अनुभव में देखने में आता है। चैतन्य का अपने सब असंख्यात प्रदेशों में एक स्वरूप है। वह सब काल में शाश्वत है, शुद्ध स्वरूप

है। सब काल में प्रत्यक्ष केवलज्ञान और केवलदर्शन का तेजपुंज है ॥२॥

सवैया—काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है।
पैठि नो-करम भेदि दरब-करम छेदि,
स्वभाव विभावताकी संधि सोधि लीनी है॥
तहां मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय,
एक मुधामई एक मुधारस भीनी है।
मुधासों विरचि सुधासिंधु में मगन होय,
एती सब क्रिया एक समय बोचि कीनी है॥

दोहा—जैसे छैनी लोहकी, करै एकसों दोय।
जड़ चेतन की भिन्नता, त्यों सुबुद्धिसों होय ॥२॥

श्लोक

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदाऽस्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति॥३॥

भावार्थ—जिसको शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है उस जीव के परिणाम व संस्कार ऐसे होते हैं कि मैं तो चेतनागुण से चिह्नित तथा जिसकी महिमा भेद रहित है ऐसा शुद्ध चैतन्य मात्र हूं। जितनी भी कर्मों के उदय की उपाधियां हैं जिनको यह जीव अनादिकाल से अपना जान कर अनुभव कर रहा था वह सब पर-द्रव्य जान कर उसका स्वामित्व छोड़ने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। कर्मरूप परद्रव्य को जीव से भिन्न करने के लिए 'जीव का लक्षण चैतन्य है कर्म का लक्षण अचेतन' ऐसा भेद सहायक है। जो यह भेद है कि आत्मा, आत्मा के लिए आत्मा से आत्मा को जानता है, अथवा आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है, द्रव्य गुण-पर्याय रूप है, अथवा ज्ञानगुण, दर्शनगुण, सौख्यगुण इत्यादि रूप है—ये सब भेद शब्दों में उपजाने से उपजते हैं परन्तु वचनमात्र में ही भेद हैं। चैतन्य सत्ता के विचार से तो कोई भेद नहीं है। निर्विकल्प मात्र चैतन्य वस्तु की सत्ता अपने स्वरूप में अपने आप ही प्रवृत्त होने वाली एवं सब कर्मों की उपाधि से रहित है॥३॥

सवैया—कोऊ अनभवी जीव कहे मेरे अनुभौ में,
लक्षण विभेद भिन्न करमको जाल है।
जाने आप आपकोंजु आपकरि आपविषै,
उतपति नाश ध्रुव धारा असराल है॥
सारे विकलप मोसों न्यारे सरवथा मेरो,
निश्चय स्वभाव यह व्यवहार चाल है।
मैं तो शुद्ध चेतन अनन्त चिनमुद्रा धारि,
प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है॥३॥

शार्दूलविक्रीड़ित

अद्वैताऽपि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥४॥

इस प्रकार चेतनामात्र सत्ता का दर्शन नाम तथा ज्ञान नाम दोनों ही संज्ञाओं से उपदेश होना है।

भावार्थ—सत्वरूप चेतना एक है, उसके नाम दो हैं। एक तो दर्शन नाम है, दूसरा ज्ञान नाम है। ऐसा भेद होता है तो हो, इसमें कुछ विरोध नहीं है। ऐसा है कि स्व-पर ग्राहक शक्ति एक प्रकाशरूप त्रैलोक्यवर्ती जीवों में प्रकट है तथापि दर्शनरूप चेतना और ज्ञानरूप चेतना ऐसे दो नामों को छोड़ें तो तीन दोष उपजते हैं। एक दूसरे में से कोई एक अपने सत्त्व को अवश्य छोड़ते हैं। भावार्थ—ऐसा भाव उपजता है कि चेतना सत्त्व नहीं है क्योंकि सत्ता मात्र में पर्यायरूप का रहितपना हो जाता है। भावार्थ—समस्त जीवादि वस्तु सत्वरूप है और वही सत्व पर्यायरूप है। चेतना भी अनादि निधन, सत्ता स्वरूप वस्तुमात्र और निर्विकल्प है इसलिए चेतना को दर्शन कहा है क्योंकि यह समस्त ज्ञेय वस्तु को ग्रहती है और वैसे ही ज्ञेयाकार परिणमन करती है इससे चेतना का ज्ञान नाम कहा है। इन दोनों अवस्थाओं को यदि छोड़ दें तो चेतना वस्तु नहीं है ऐसी प्रतीति उपजती है। यहां कोई प्रश्न करे कि चेतना नहीं तो न सही, जीव द्रव्य तो है ही—इसका यह उत्तर है कि जीव द्रव्य चेतना मात्र से सिद्ध होता है। बिना

चेतना जीव द्रव्य भी सधेगा नहीं और जो सधेगा तो पुद्गल द्रव्य की भांति अचेतन सधेगा। चेतन नहीं सधेगा तो दूसरा दोष यह होगा कि चेतना का अभाव होने पर जीव द्रव्य भी पुद्गल द्रव्य की भांति अचेतन है ऐसी प्रतीति उपजेगी। तीसरा दोष—चेतना गुण के अभाव होने पर ऐसी प्रतीति उपजेगी कि चेतना गुण मात्र है जो जीव द्रव्य वह मूल से जीव द्रव्य नहीं है। यह तीनों दोष मोटे दोष हैं। इन दोषों के भय से ऐसा माना कि चेतना में दर्शन और ज्ञान ऐसी दोनों नाम संज्ञाएँ विराजमान हैं। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है ।।४।।

सवैया—निराकार चेतना कहावे दरसन गुण,
साकार चेतना शुद्ध ज्ञान गुण सार है।
चेतना अद्वैत दोउ चेतन दरब मांहि,
सामान्य विशेष सत्ता ही को विस्तार है।।
कोउ कहे चेतना चिन्ह नांहीं आतमा में,
चेतना के नाश होत त्रिविध विकार है।
लक्षणको नाश सत्ता नाश मूल वस्तु नाश,
तातै जीव दरबको चेतना आधार है।।४।।

उपजाति

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।५।।

जीव द्रव्य का चेतना मात्र स्वभाव है। निश्चय से ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। वह चेतना मात्र भाव निर्विकल्प है, निर्भेद है, सर्वथा शुद्ध है। निश्चय ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप से नहीं मिलने वाले जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म सम्बन्धी परिणाम हैं वे सब पुद्गल कर्म के हैं, जीव के नहीं हैं। इसलिए शुद्ध चेतना मात्र जो स्वभाव है वह जीव का स्वरूप है, ऐसा अनुभव करना योग्य है और इससे न मिलने वाले जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म स्वभाव हैं वे सर्वथा प्रकार जीव के स्वरूप नहीं हैं, ऐसा अनुभव करना योग्य है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वगुण मोक्ष का कारण है ।।५।।

अडिल्ल—जाके चेतन भाव चिदानंद सोइ है।
और भाव जो धरे सो और कोइ है।।

जो चित मंडित भाव, उपादे जानने ।
त्याग योग्य परभाव, पराए मानने ॥
सवैया—जिन्हके सुमति जागी भोगसों भए विरागी,
परसंग त्यागि जे पुरुष त्रिभुवन में ।
रागादिक भावनिसों जिनकी रहनि न्यारी,
कबहू मगन ह्वै न रहे धाम धनमें ॥
जे सदैव आपको विचारें सरवांग शुद्ध,
जिनके विकलता न व्यापे कहुं मन में ।
तेई मोक्ष मारगके साधक कहावें जीव,
भावे रहो मंदिर में भावे रहो बन में ॥६॥

शार्दूलविक्रीडित

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति: सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा: पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

सकल कर्म के क्षय होने से जो अतीन्द्रिय सुख होना है उसको जो जीव उपादेयरूप अनुभव करता है उसे जैसा वस्तु का स्वरूप बताया है उसका निरन्तर वैसा ही अनुभव करना चाहिए। मोक्षार्थी जीव के मन का अभिप्राय संसार शरीर भोगों से रहित है। परमार्थ से जीव द्रव्य स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और सर्व काल में ज्ञानस्वरूप है। यह विशेष है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप से न मिल पाने वाले जो रागादि अशुद्ध भाव—शरीर आदि और सुख-दुःख आदि नाना प्रकार की जो अशुद्ध पर्याय हैं वे समस्त जीव द्रव्य के स्वरूप नहीं हैं, वे हमारे शुद्ध चैतन्य स्वरूप से नहीं मिल सकते। इसलिए निज स्वरूप का अनुभव होने पर जितनी भी रागादि अशुद्ध विभाव पर्याय हैं वे मेरे लिए पर-द्रव्यरूप हैं कारण कि वे शुद्ध चैतन्य लक्षण से मिलती नहीं हैं इसलिए समस्त विभाव परिणाम हेय हैं ॥६॥

सवैया—चेतन मंडित अंग अखण्डित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो ।
राग विरोध विमोह दशा, समुझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो ॥
भोग संयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्मज घेरो ।
है जिन्हको अनुभौ इह भांति, सदा तिनको परमारथ नेरो ॥६॥

श्लोक

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥७॥

शुद्ध चिद्रूप के अनुभव से जो जीव भ्रष्ट है वह ज्ञानावरणादि कर्मों को बांधता है। क्योंकि वह शरीर-मन-वचन, रागादि अशुद्ध परिणामों में अपनेपन की बुद्धि रूप स्वामित्व करता है। कर्म के उदय के भाव को आत्मा के रूप में नहीं अनुभव करने वाला- परद्रव्य से विरक्त सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानावरणादि कर्मों के पिण्ड को नहीं बांधता।

भावार्थ—जैसे कोई चोर पर वस्तु चुराता है तो गुनहगार होता है और गुनहगार होने से बांधा जाता है। उसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव परद्रव्यरूप जो द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म है उनको अपना जानकर अनुभव करता है। परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो वह गुनहगार है। इसीलिए ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्धक है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे भावों से रहित है। वह अपने आत्मद्रव्य में संवररूप है अर्थात् आत्मा में ही मग्न है ॥७॥

दोहा—जो पुमान परधन हरे, सो अपराधी अज्ञ।
जो अपनो धन व्यवहरे, सो धनपति सर्वज्ञ ॥
पर की संगति जो रचे, बंध बढ़ावे सोय।
जो निज सत्ता में मगन, सहज मुक्त सो होय ॥
उपजे बनसे थिर रहे, यह तो वस्तु बखान।
जो मर्यादा वस्तु की, सो सत्ता परमान ॥७॥

मालिनी

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो-
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी ॥८॥

ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव जो उन पुद्गल कर्मों को जो परद्रव्यरूप हैं आप रूप जानता है वह अखण्ड धाराप्रवाहरूप, गणना से अतीत (परे) ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल वर्गणा से बांधा जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव जो शुद्ध स्वरूप का अनुभवन करता है किसी भी काल में ऊपर कहे हुए कर्म-

बंध को निश्चय से नहीं छूता है। आगे सापराध और निरपराध का लक्षण कहते हैं मिथ्यादृष्टि जीव रागादि अशुद्ध परिणाम रूप परिणमन करता है और अपने जीव द्रव्य का निरन्तर वैसा ही अनुभव करता है इसलिए अपराध सहित होता है। साधु अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव सकल रागादि अशुद्धपने से भिन्न जो शुद्ध चिद्रूप मात्र जीव द्रव्य है उसी का अनुभव करता है, उसी में विराजमान है इसलिए समस्त अपराध से रहित है, उसको कर्म का बन्ध नहीं होता ॥८॥

दोहा—जाके घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही, सो अपराधी जीव ॥
अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध।
पर को माने आतमा, करे करम को बंध ॥
झूठी करनी आचरे, झूठे सुख की आस।
झूठी भगती हिय धरे, झूठो प्रभु को दास ॥
जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ज्ञानकला घट मांहि।
परचे आतमरामसों, ते अपराधी नांहि ॥८॥

आर्या

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्
आत्मन्येवालानितं च चित्त-
मासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥९॥

शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग का अधिकारी नहीं है अतः उसको धिक्कार कहा है। वह कर्म के उदय से प्राप्त भोग सामग्री में सुख की वांछा करता है। रागादि अशुद्ध परिणामों से उसके प्रदेशों में आकुलता होती है वे भी हेय हैं। बुद्धिपूर्वक ज्ञानोपार्जन करते हुए पढ़ना, विचार करना, चिन्तन करना, स्मरण करना भी मोक्ष का कारण नहीं है ऐसा जानकर उनको भी हेय कहा है। शुद्ध स्वरूप में एकाग्र होकर मन को बांधना ही मोक्ष का कारण है और वह निरावरण केवलज्ञान का समूहरूप जो आत्मद्रव्य है उसकी प्रत्यक्ष प्राप्ति से होता है ॥९॥

सवैया—जिन्हके धरम ध्यान पावक प्रगट भयो,
संसै मोह विभ्रम विरख तीनों बढ़े हैं।

जिन्हके चितौनि आगे उदै स्वान भूमि भागे,
लागे न करम रज ज्ञान गज चढ़े हैं ॥
जिन्ह की समझ की तरंग अंग आगम से,
आगम में निपुण अध्यातम में कढ़े हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठों याम,
राम रस गाढ़ करे यहै पाठ पढ़े हैं ॥९॥

वसंततिलका

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतम्
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्द्ध्वमूर्द्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः ॥१०॥

जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष बनाया गया है वहाँ अप्रतिक्रमण तो अमृत कहाँ से हो सकता है। जब ऐसा है तो संसारी जीवराशि क्यों प्रमाद करती है!

भावार्थ—सूत्र के कर्त्ता कृपासागर आचार्य कहते हैं कि नाना प्रकार के विकल्प करने से साध्य की सिद्धि तो नहीं है। जन (लोग) जैसे-जैसे अधिक क्रिया करते हैं, अधिक से अधिक विकल्प करते हैं, वैसे-वैसे अनुभव से भ्रष्ट होते जाते हैं। इस कारण से संसारी जीव राशि निर्विकल्प से निर्विकल्प अनुभवरूप परिणाम क्यों नहीं करती। उस निर्विकल्प अनुभव में जहाँ प्रतिक्रमण अर्थात् पठन-पाठन, स्मरण, चिंतन, स्तुति, वंदना इत्यादि अनेक क्रियारूप विकल्प विष की भांति कहे हैं। तब उस निर्विकल्प अनुभव में अप्रतिक्रमणरूप अर्थात् न तो पढ़ना न पढ़ाना, न वंदना न निंदा ऐसा भाव अमृत के निधान समान कैसे हो सकता है? भावार्थ—निर्विकल्प अनुभव सुखरूप है इसलिए उपादेय है। नाना प्रकार का विकल्प आकुलतारूप है इसलिए हेय है ॥१०॥

दोहा—नंदन वंदन थुतिकरन, श्रवन चिंतवन जाप।
पढ़न पढ़ावन उपदिसन, बहुविधि क्रिया कलाप ॥
सुद्धातम अनुभव जहाँ, सुभाचार तहँ नांहि।
करम करम मारग विषैं, सिवमारग सिवमांहि ॥

चौपाई—जहां प्रमाद दशा नहिं व्यापै । तहां अवलंब आपनो आपै ॥
ता कारन प्रमाद उतपाती । प्रगट मोखमारग को घाती ॥
जे प्रमाद संयुक्त गुसाईं । उठहिं गिरहिं गिंदुक की नाईं ॥
जे प्रमाद तजि उद्धत होई । तिनको मोक्ष निकट द्रिग सोई ॥
घट में है प्रमाद जब तांई । पराधीन प्रानी तब तांई ॥
जब प्रमाद की प्रभुता नासे । तब प्रधान अनुभव परकासे ॥

दोहा—ता कारण जगपंथ इत, उत शिवमारग जोर ।
परमादी जगकूं ढुके, अपरमाद शिव ओर ॥१०॥

मालिनी

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाऽचिरात् ॥११॥

जो जीव (शुद्ध चेतना का) अनुभव करने में शिथिल है वह शुद्धोपयोगी कहां से होगा अर्थात् नहीं होगा । रागादि अशुद्ध परिणति के तीव्र उदय से नाना प्रकार के विकल्प होते हैं और इस कारण से अनुभव करने में शिथिलता आती है ।

भावार्थ जो जीव शिथिल है, विकल्पी है, वह जीव शुद्ध नहीं है क्योंकि शिथिलपना और विकल्पपना अशुद्धता का मूल है । इस कारण से सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धोपयोग परिणति में परिणमन करता है और उस काल में वह कर्मबंध से मुक्त होता है । ऐसा मुनि (सम्यग्दृष्टि जीव) शुद्धस्वरूप में एकाग्ररूप से मग्न होता हुआ अपने स्वभाव अर्थात् चेतनागुण से परिपूर्ण है ॥१११॥

दोहा—जे परमादी आलसी, जिन्हके विकलप भूर ।
होइ सिथिल अनुभौविषै, तिन्हको शिवपथ दूर ॥
जे परमादी आलसी, ते अभिमानी जीव ।
जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव ॥
जे अविकलपी अनुभवी, शुद्ध चेतनायुक्त ।
ते मुनिवर लघुकाल में, होंहि करम सों मुक्त ॥११॥

शार्दूलविक्रीडित

**त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१२॥**

राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणति से भिन्न होता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव सकल कर्म का क्षय करके अतीन्द्रिय सुख जिसका लक्षण है उस मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों की बंधरूप पर्याय की सत्ता का नाश करता है तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से प्राप्त सामग्री के ममत्व को मूल से स्वयं छोड़कर निश्चय से द्रव्य के निर्मल स्वभाव वाले चेतनागुण के अतीन्द्रिय सुख में धाराप्रवाहरूप परिणमन करता है, उसमें तन्मयी है और वह सर्वकाल अतीन्द्रिय सुख स्वरूप है ऐसा उसका माहात्म्य है। वह अवश्य ही जितने भी सूक्ष्म अथवा स्थूल राग-द्वेष-मोह परिणाम हैं उनसे सब प्रकार रहित है। वह सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध चैतन्य के निर्विकल्प अनुभव से उपजे सुख में मग्न है।

भावार्थ—सर्व अशुद्धपने के मिटने पर शुद्धपना होता है और सम्यक्-दृष्टि को शुद्ध चिद्रूप के अनुभव का सहारा है ऐसा मोक्षमार्ग है ॥१२॥

**चौपाई—जे समकिती जीव समचेती। तिनकी कथा कहूं तुम सेती ॥
जहां प्रमाद क्रिया नहिं कोई। निरविकल्प अनुभौ पद सोई ॥
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों। करम बंध नहिं होय नवीनो ॥
जहां न राग द्वेष रस मोहें। प्रगट मोक्ष मारग सुख सोहे ॥
पूरब बंध उदय नहिं व्यापे। जहां न भेद पुण्य अरु पापे ॥
द्रव्य भाव गुण निर्मल धारा। बोध विधान विविध विस्तारा ॥
जिन्हके सहज अवस्था ऐसी। तिन्हके हिरदे दुविधा कैसी ॥
जे मुनि क्षपक श्रेणि चढ़ि धाये। ते केवलि भगवान कहाए ॥**

**दोहा—इहविधि जे पूरण भए, अष्टकर्म वन दाहि।
तिन्हकी महिमा जे लखें, नमें बनारसि ताहि ॥१२॥**

मंदाक्रांता

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१३

ज्ञानावरणादि अष्टकर्म की मूल सत्ता का नाश करके निष्कर्म अवस्थारूप परिणमन करता हुआ जीव द्रव्य समस्त कर्ममल के कलंक का विनाश होने पर जैसा अनन्तगुण विराजमान था वैसा प्रगट हुआ। वह आगामी अनन्तकाल पर्यन्त अविनश्वर है, उपमा रहित है। शाश्वत प्रकाश से स्फुटित शुद्ध ज्ञान से अनन्तगुण विराजमान शुद्ध जीव द्रव्य की सहज अवस्था प्रगट हुई है। वह सर्वथा प्रकार शुद्ध है, अनंतगुणों से युक्त है और सर्वकाल में शाश्वत है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य के अतिशय से एक रूप हुआ है तथा अपने निष्कम्प प्रताप में मग्न है।

भावार्थ सकल कर्मों के क्षय के लक्षण से युक्त मोक्ष में आत्मद्रव्य स्वाधीन है; अन्य चारों गतियों में जीव पराधीन है। यह मोक्ष का स्वरूप कहा ॥१३॥

छप्पै **भयो शुद्ध अंकूर, गयो मिथ्यात्व मूल नसि ।**
क्रम क्रम होत उद्योत, सहज जिमि शुक्ल पक्ष ससि ॥
केवलरूप प्रकाश, भासि सुख राशि धरम ध्रुव ।
करि पूरण थिति आउ, त्यागि गत भाव परम हुव ॥
इह विधि अनन्य प्रभुता धरत, प्रगटि बूंद सागर भयो ।
अविचल अखंड अनभय अखय, जीवद्रव्य जगमांहि जयो ॥१३॥

॥ इति नवमोऽध्याय: ॥

दशम अध्याय

शुद्धात्म-द्रव्य अधिकार

मंदाक्रांता

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥१॥

अब विद्यमान शुद्ध जीव द्रव्य प्रगट होता है ।

भावार्थ—यहां से लेकर जैसा जीव का शुद्ध स्वरूप है वैसा कहते हैं । जिसका स्वभाव स्वानुभव गोचर महिमा से युक्त है वह ज्ञानपुञ्ज (जीव) सर्वकाल एक रूप है एवं शुद्ध ज्ञान चेतना के अनन्त अंश भेदों से सम्पूर्ण है । वह निरावरण ज्योति प्रकाश स्वरूप है । अति ही विशुद्ध है । बन्ध अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म के पिंड से जीव एक क्षेत्रावगाह है अथवा मोक्ष अर्थात् सकल कर्मों का नाश होने पर जीव के स्वरूप का प्रगटपना है—यह दोनों विकल्प एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की पर्याय में पाए जाने वाले जीव द्रव्य से अति ही भिन्न हैं । भावार्थ—एकेन्द्रिय से पंचेंद्रिय आदि की मर्यादा के विचार से जहां तहां द्रव्य स्वरूप के विचार की अपेक्षा इस प्रकार बंधा है अथवा इस प्रकार मुक्त है—जीव द्रव्य ऐसे विकल्पों से रहित है । द्रव्य का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है । जो अनंत जीव हैं वे कर्त्ता हैं ऐसा विकल्प, भोक्ता हैं ऐसा विकल्प इत्यादि, विकल्पों के अनंत भेदों को मूल से विनाश करके जीव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है ॥१॥

दोहा—इति श्री नाटक ग्रन्थ में, कह्यौ मोख अधिकार ।
अब बरनौं संक्षेप सौं, सर्व विशुद्धी द्वार ॥

सवैया—कर्मनिको करता है भोगनि को भोगता है,
जाको प्रभुता में ऐसो कथन अहित है।
जामें एक इंद्रियादि पंचधा कथन नांहि,
सदा निरदोष बंध मोक्षमों रहित है॥
ज्ञानको समूह ज्ञानगम्य है स्वभाव जाको,
लोक व्यापि लोकातीत लोकमें महित है।
शुद्ध वंश शुद्ध चेतनाके रस अंशभरयो,
ऐसो हंस परम पुनीतता सहित है॥
दोहा—जो निश्चै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अंत।
सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जयवंत॥१॥

श्लोक

कर्त्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्त्ताऽयं तदभावादकारकः॥२॥

चैतन्य स्वरूप जीव कहीं ज्ञानावरणादि कर्म को करे अथवा रागादि परिणाम को करे ऐसा तो जीव का सहज गुण नहीं है। और जीव कर्म का भोक्ता भी नहीं है।

भावार्थ—यदि जीव द्रव्य कर्म का भोक्ता हो तो कर्त्ता भी होगा। लेकिन भोक्ता तो है नहीं तो फिर कर्त्ता भी नहीं है। यहां जीव रागादि अशुद्ध परिणाम को करता है यह फिर कैसे हुआ? कर्मजनित भावों में आत्मबुद्धिरूप जो मिथ्यात्व विभाव परिणाम है उसकी वजह से जीव कर्त्ता है। भावार्थ—जीववस्तु रागादि विभाव परिणाम का कर्त्ता है—ऐसा जीव का स्वभाव गुण नहीं है परन्तु यह उसकी अशुद्ध रूप विभाव परिणति है। उस मिथ्यात्व राग-द्वेष रूप विभाव परिणति के मिटने पर जीव सर्वथा अकर्त्ता होता है॥२॥

चौपाई—जीव करम करता नहिं ऐसे। रस भोक्ता स्वभाव नहिं तैसे॥
मिथ्यामतिसों करता होई। गए अज्ञान अकरता सोई॥२॥

शिखरिणी

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥३॥

विद्यमान चैतन्य द्रव्य ज्ञानावरणादि का अथवा रागादि अशुद्ध परिणामों का कर्ता नहीं है। यह सहज स्वभाव से अनादि-निधन ऐसा ही है। द्रव्य दृष्टि से जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न है एवं अनंत द्रव्य अपनी समस्त अतीत-अनागत-वर्तमान पर्यायों सहित इसमें इसके प्रकाशरूप चेतनागुण के कारण प्रतिबिम्बित है। यद्यपि निश्चय दृष्टि से जीव द्रव्य शुद्ध है फिर भी संसार अवस्था में जीव के ज्ञानावरणादि कर्मरूप जो कुछ बन्ध होता है वह निश्चय ही मिथ्यात्वरूप विभाव परिणमन शक्ति का ऐसा ही कोई असाध्य स्वभाव है।

भावार्थ— जो जीव द्रव्य संसार अवस्था में विभावरूप मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मोह के परिणामों में परिणमा है तो वह जैसा परिणमा है वैसे ही भावों का कर्ता होता है। अशुद्ध भावों के मिटने पर जीव का स्वभाव अकर्ता है ॥३॥

सवैया— निहचै निहारत स्वभाव याहि आतमाको,
आत्मीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाको,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना॥
सोई जीव संसार अवस्था मांहि करम को,
करतासों दीसे लिए भरम उपासना।
यहै महा मोहको पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भो विकार यहै व्यवहार वासना॥३॥

श्लोक

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥४॥

गणधर देव ने ऐसा तो नहीं कहा है कि चैतन्य द्रव्य अपने सहज गुण से ज्ञानावरणादि कर्मों के फल अथवा सुख-दुख रूप कर्म चेतना का अथवा रागादि अशुद्ध परिणामरूप कर्म चेतना का भोक्ता है, बल्कि ऐसा कहा है कि जीव का स्वभाव भोक्ता नहीं है क्योंकि जीव द्रव्य कर्म का कर्ता ही नहीं है। तो प्रश्न उठता है कि फिर भी जीव द्रव्य अपने सुख-दुखरूप परि-

णामों का भोगता है ऐसा भी है—यह कैसे हुआ ? चूंकि जीव का अनादि काल से कर्म से संयोग है इसलिए वह मिथ्यात्व-राग-द्वेष रूप अशुद्ध विभाव में परिणमित हुआ है, इसलिए भोक्ता है। मिथ्यात्वरूप विभाव परिणामों का विनाश होने पर जीव द्रव्य साक्षात् अभोक्ता है।

भावार्थ—जीव द्रव्य का जैसा अनन्तचतुष्टय स्वरूप है वैसा कर्म का कर्तापना-भोक्तापना उसका स्वरूप नहीं है। कर्म की उपाधि से वह उसका विभावरूप अशुद्ध परिणति का विकार है इसलिए विनाशीक है उस विभाव परिणति के विनशने पर जीव अकर्त्ता-अभोक्ता है। अब आगे यह कहेंगे कि मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यकर्म का अथवा भावकर्म का कर्ता है, परन्तु सम्यक्-दृष्टि कर्ता नहीं है ॥४॥

चौपाई—यथा जीव कर्त्ता न कहावे, तथा भोगता नाम न पावे ॥
है भोगी मिथ्यामति मांहीं । गए मिथ्यात्व भोगता नाहीं ॥४॥

शार्दूलविक्रीड़ित

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥५॥

जीव को परद्रव्य में आत्मबुद्धि रूप मिथ्या परिणति जैसे भी मिटे, मिटना योग्य है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध चिद्रूप के अनुभव में अखण्ड धारारूप से मग्न है, समस्त उपाधियों से रहित है और अकेला चैतन्यपना उसका स्वभाव है। उसके लिए तो शुद्ध वस्तु की अनुभव रूप सम्यक्त्व परिणति में सर्व काल रहना ही उपादेय है क्योंकि वह वस्तु स्वरूप के परिणमन को अवश्य ही जानता है। वस्तु स्वरूप ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि जीव सर्व काल में द्रव्यकर्म का, भावकर्म का भोक्ता होता है। मिथ्यात्व का परिणमन निश्चय ही ऐसा ही है। अज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि अष्टकर्म के उदय में नाना प्रकार के चतुर्गति शरीरों को, रागादि भावों तथा सुख-दुख की परिणति को अपना जान कर उनमें एकत्व बुद्धि रूप परिणमा है। मिथ्यात्व के मिटने पर तो जिसका कर्म के उदय के कार्य में, उसे हेय जान कर, स्वामित्वपना छूट गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव ही है जो द्रव्यकर्म,

भावकर्म का भोक्ता नहीं है- ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

भावार्थ—जीव के सम्यक्त्व होने पर अशुद्धपना मिटता है इसलिए भोक्ता नहीं है ॥५॥

सवैया- जगवासी अज्ञानी त्रिकाल परजाय बुद्धि,
सो तो विषै भोगनिसों भोगता कहायो है।
समकिती जीव जोग भोगसों उदासी तातें,
सहज अभोगता जु ग्रंथनिमें गायो है॥
याहि भांति वस्तुकी व्यवस्था अवधारे बुध,
परभाव त्यागि अपनो स्वभाव आयो है।
निरविकलप निरुपाधि आतम आराधि,
साधि जोग जुगति समाधि में समायो है ॥५॥

वसंततिलका

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥

सम्यग्दृष्टि जीव रागादि अशुद्ध परिणामों का कर्त्ता नहीं है और सुख-दुख आदि अशुद्ध परिणामों का भोक्ता नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से यह जानता तो है कि जितने भी शरीर भोग, रागादि, सुख-दुख इत्यादि हैं वे सब कर्म के उदय से होते हैं, वे जीव का स्वरूप नहीं है परन्तु वह उनमें स्वामित्वरूप से परिणमन नहीं करता। सम्यग्दृष्टि जीव तो जैसा निर्विकार सिद्ध है, वैसा ही है। समस्त परद्रव्य की सामग्री का ज्ञायक मात्र है। मिथ्यादृष्टि की तरह उस सामग्री का स्वामीपना नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव में कर्म के करने अथवा कर्म के भोगने का भाव मिट गया है इसलिए वह शुद्ध चैतन्य वस्तु के आस्वाद में मग्न है।

भावार्थ—मिथ्यात्व संसार है। मिथ्यात्व के मिटने पर जीव सिद्ध सदृश है ॥६॥

सवैया— जिनमुद्रा धारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुण,
रतन भंडारी आप हारी कर्म रोग को।

प्यारो पंडितनको हुस्यारो मोक्ष मारग में,
न्यारो पुद्गल सों उजारो उपयोग को ॥

जाने निज पर तत्त रहे जग में विरत्त,
गहे न ममत्त मन वच काय जोगको।
ता कारण ज्ञानी ज्ञानावरणादि करमको,
करता न होइ भोगता न होइ भोगको ॥

दोहा—निरभिलाष करणी करे, भोग अरुचि घट मांहि।
तातें साधक सिद्धसम, कर्त्ता भोक्ता नांहि ॥६॥

श्लोक

ये तु कर्त्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥७॥

मिथ्यादृष्टि जीव के कर्म का विनाश अथवा शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। यद्यपि वह जैन मत के आश्रित है, बहुत ही पढ़ा-लिखा है, द्रव्य क्रिया रूप चारित्र पालता है, मोक्ष का अभिलाषी है तो भी जैसे तापस अथवा योगी भरड़ा इत्यादि जीवों को मोक्ष नहीं है वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव को भी मोक्ष नहीं है।

भावार्थ– यह जीव जैन मत का आश्रित है इसमें कुछ विशेषता होगी ? इससे कुछ विशेषता नहीं है। ये मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानते हैं कि जीव द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह ज्ञानावरणादि कर्मों को तथा रागादि अशुद्ध परिणामों को करता है। ऐसी ही वे प्रतीति करते हैं और ऐसा ही आस्वाद लेते हैं। मिथ्यात्व भाव ऐसा अन्धकारमय होकर व्याप्त है कि उसमें मिथ्यादृष्टि जीव अन्धा हो रहा है। भावार्थ—जो जीव का स्वभाव कर्त्तारूप मानते हैं वे महामिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि कर्त्तापना जीव का स्वभाव नहीं है, विभावरूप अशुद्ध परिणति है, पराये संयोग से है और विनाशीक है ॥७॥

कवित्त—जो हिय अंध विकल मिथ्यात धर, मृषा सकल विकलप उपजावत।
गहि एकंत पक्ष आतमको, करता मानि अधोमुख धावत ॥
त्यों जिनमती द्रव्य-चारित कर, करनी करि करतार कहावत।
वांछित मुक्ति तथापि मूढ़मति, बिन समकित भव पार न पावत ॥

श्लोक

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥८॥

इस प्रकार ज्ञानावरणादिरूप परद्रव्य पुद्गल के पिंड का शुद्ध जीव कर्ता अथवा पुद्गल द्रव्य जीव के भावों का कर्ता क्यों होगा, अपितु नहीं होगा। संयोगी अवस्था के कारण जो जीव ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता दिखाई देता है सो दूसरे द्रव्य के साथ एक सम्बन्ध का अभाव हो जाए तो द्रव्य का स्वभाव ऐसा नहीं है यह स्पष्ट हो जाए। यद्यपि दो वस्तु एक क्षेत्रावगाह रूप हैं तथापि अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए हैं—कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में तन्मयरूप नहीं मिलता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है इसलिए जीव पुद्गल का कर्त्ता नहीं है ॥८॥

चौपाई—चेतन अंक जीव लखि लीना। पुद्गल कर्म अचेतन चीना ॥
वासी एक खेत के दोऊ। जदपि तथापि मिले न कोऊ ॥
दोहा—निज निज भाव क्रिया सहित, व्यापक व्याप्य न कोइ।
कर्त्ता पुद्गल कर्म को, जीव कहां सो होइ ॥८॥

वसंततिलका

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्म्मघटनाऽस्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाः स्वतत्त्वं ॥९॥

जब जीव द्रव्य चेतना स्वरूप है और पुद्गलद्रव्य अचेतन स्वरूप है ऐसा भेद अनुभव में आ रहा है तो ऐसा व्यवहार कि जीव द्रव्य पुद्गल पिंड-रूप कर्म का कर्त्ता है, सर्वथा नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे ऐसा अनुभव करें, ऐसा आस्वाद लें कि जीव का स्वरूप कर्त्ता नहीं है। क्योंकि शुद्ध जीव द्रव्य का पुद्गल द्रव्य से अतीत-अनागत-वर्तमान किसी भी काल में एकत्व-पना वर्जित है।

भावार्थ—अनादि-निधन जो द्रव्य है वह तो जैसा है वैसा ही है, अन्य द्रव्य से नहीं मिलता है। इसलिए जीवद्रव्य पुद्गल कर्म का अकर्त्ता है ॥९॥

सवैया – जीव अरु पुद्गल करम रहे एक खेत,
यद्यपि, तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है।
लक्षण स्वरूप गुण परजै प्रकृति भेद,
दुहू में अनादि ही को दुविधा ह्वै रही है॥
एते पर भिन्नता न भासे जीव करम की,
जोलों मिथ्याभाव तोलों औंधी वायु बही है।
ज्ञानके उद्योत होत ऐसी सूधी दृष्टि भई,
जीव कर्म पिण्डको अकरतार सही है॥

दोहा—एक वस्तु जैसी जुहै, तासों मिले न आन।
जीव अकर्ता कर्मको, यह अनुभौ परमान॥९॥

वसंततिलका

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥१०॥

दुःख के साथ कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव-राशि के शुद्ध चैतन्यरूप प्रकाश को मिथ्यात्वरूप भावों ने ऐसा आच्छादित कर लिया है कि वह मोह-राग-द्वेष रूप अशुद्ध परिणमन कर रही है और जीवद्रव्य ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंड का कर्ता नहीं है' ऐसा जो वस्तु का स्वभाव है उसका उसे प्रत्यक्षरूप से अनुभव नहीं होता।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव राशि शुद्ध स्वरूप के अनुभव से भ्रष्ट है इसीलिए पर्याय में मग्न है और मिथ्यात्व-राग-द्वेष के अशुद्ध परिणाम में उसका परिणमन हो रहा है। क्योंकि मिथ्यात्व-राग-द्वेष अशुद्ध चेतना रूप परिणामों में जीव द्रव्य का ही व्याप्य-व्यापक रूप से परिणमन है अतः वह अपने आप ही उनका कर्त्ता है, पुद्गल कर्म अशुद्ध चेतना रूप परिणामों का कर्ता नहीं है। भावार्थ—जो जीव मिथ्यादृष्टि हुआ जैसे अशुद्ध भाव-रूप परिणमता है, वैसे ही भावों का कर्ता होता है, ऐसा सिद्धांत है॥१०॥

चौपाई—जो दुरमति विकल अज्ञानी। जिन्ह स्वरीत पररीत न जानी॥
माया मगन भरमके भरता। ते जिय भाव करम के करता॥

दोहा—जे मिथ्यामति तिमिरसों, लखे न जीव अजीव।
तेई भावित कर्मके, कर्ता होय सदीव॥

जे अशुद्ध परिणति धरे, करें अहं पर मान ।
ते अशुद्ध परिणाम के, कर्ता होय अजान ॥१०॥

स्रग्धरा

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥११॥

तो उस समय में जीव-द्रव्य रागादि अशुद्ध चेतना परिणामों में व्याप्य व्यापक रूप से परिणमता है इसलिए वह कर्त्ता है। रागादि अशुद्ध परिणमन अशुद्ध चेतनारूप है और उस समय में उस रूप जीव-द्रव्य स्वयं व्याप्य व्यापक रूप से परिणमन करता है इसलिए अशुद्ध परिणमन जीव का कर्म है। पुद्गल द्रव्य चेतनारूप नहीं है परन्तु रागादि परिणाम चेतना-रूप हैं इसलिए वे जीव के किए हैं। आगे इसी ही भाव को गाढ़ा करते हैं। ऐसा नहीं है कि रागादि अशुद्ध चेतनारूप परिणाम आकाश द्रव्य की भांति स्वयं सिद्ध हैं, ये किसी के द्वारा किए हुए हैं और (चूंकि घड़े की तरह) उपजते और विनशते हैं इसलिए ऐसी प्रतीति होती है कि ये क्रियारूप हैं। रागादि अशुद्ध चेतना परिणमन चेतना द्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य दोनों की क्रिया नहीं है।

भावार्थ—यदि कोई ऐसा मानता है कि जीव और कर्म मिलने से रागादि अशुद्ध चेतना परिणमन होते हैं इसलिए दोनों ही द्रव्य कर्ता हैं तो उसका ऐसा समाधान है कि दोनों कर्ता नहीं है कारण कि रागादि अशुद्ध परिणामों का बाह्य निमित्त-कारण मात्र पुद्गल कर्म का उदय है। अंतरंग कारण जीव द्रव्य का विभावरूप होकर उनमें व्याप्य-व्यापकरूप से परि-णमना है इससे जीव का कर्तापना घटित होता है, पुद्गल कर्म का कर्तापना नहीं घटता। और फिर अचेतन द्रव्य रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म यदि रागादि अशुद्ध परिणामों का कर्त्ता हो तो उसे अपनी इस करतूत के फल सुख-दुख का भोक्ता भी होना चाहिए। भावार्थ—जो द्रव्य जिस भाव का कर्त्ता होता है वही द्रव्य उसका भोक्ता भी होता है। सो यदि रागादि अशुद्ध चेतन परिणामों को जीव और कर्म दोनों ने मिल कर किया होता तो दोन

ही उसके भोक्ता होते। सो दोनों तो भोगते नहीं हैं। यह तो घटित होता है कि जीव द्रव्य सुख-दुख को भोक्ता है क्योंकि वह चेतन है पर पुद्गल द्रव्य अचेतन है इसलिए उस पर सुख-दुख का भोक्तापना नहीं घटता। इसलिए रागादि अशुद्ध चेतन परिणामों का अकेला संसारी जीव ही कर्त्ता है और भोक्ता है। इसी अर्थ को और स्पष्ट करते हैं—यह अकेले पुद्गल कर्म की करतूत नहीं है। भावार्थ—कोई यह माने कि रागादि अशुद्ध चेतन परिणाम अकेले पुद्गल कर्म के किए हैं तो उसका उत्तर है कि ऐसा भी नहीं है क्योंकि अनुभव में ऐसा आता है कि पुद्गल कर्म अचेतन द्रव्य है और रागादि परिणाम अशुद्ध चेतनारूप हैं। अचेतन द्रव्य के परिणाम तो अचेतनरूप ही होंगे इसलिए रागादि अशुद्ध परिणामों का कर्त्ता संसारी जीव है और भोक्ता भी वही है ॥११॥

दोहा—शिष्य पूछे प्रभु तुम कह्यो, दुविध कर्म का रूप।
द्रव्यकर्म पुद्गलमई, भावकर्म चिद्रूप ॥
कर्ता द्रव्यजु कर्मको, जीव न होइ त्रिकाल।
अब यह भावित कर्म तुम, कहो कौन की चाल ॥
कर्त्ता याको कौन है, कौन करे फल भोग।
कै पुद्गल कै आत्मा, कै दुहु को संयोग ॥
क्रिया एक कर्त्ता जुगल, यों न जिनागम मांहि।
अथवा करणी औरकी, और करे यों नांहि ॥
करे और फल भोगवे, और बने नहि एम।
जो करता सो भोगता यहै यथावत जेम ॥
भावकर्म कर्त्तव्यता, स्वयं सिद्ध नहि होय।
जो जगकी करणी करे, जगवासी जिय सोय ॥
जिय कर्त्ता जिय भोगता, भावकर्म जियचाल।
पुद्गल करे न भोगवे, दुविधा मिथ्याजाल ॥
ताते भावित कर्मको, करे मिथ्याती जीव।
सुख दुख आपद संपदा, भुंजे सहज सदीव ॥११॥

शार्दूलविक्रीडित

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैव कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।

तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥१२॥

अब जीव द्रव्य के स्वभाव की उस मर्यादा का वर्णन करते हैं—जिसने 'जीव कर्ता हैं और अकर्ता भी है' ऐसे अनेकान्त को सावधानी से स्थापित कर विजय पाई है। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव जिनकी शुद्ध-स्वरूप का अनुभव करने की सम्यक्शक्ति तीव्रकर्म के उदय से उपजे मिथ्यात्वभाव से अच्छादित है और जो जीव को सर्वथा अकर्ता कहते हैं उनकी इस विपरीत बुद्धि को छुड़ाने के लिए जीव के स्वरूप की साधना है। चेतना स्वरूप मात्र जो जीवद्रव्य है वह किसी युक्ति से अशुद्ध भाव का कर्ता भी है ऐसा सुनने मात्र से किसी-किसी मिथ्यादृष्टि जीव को अत्यन्त क्रोध उपजता है जो गाढ़ा और अमिट है। वह जीव के अपने रागादि अशुद्ध भावों के कर्तापने को सर्वथा मेट कर क्रोध करता है और यह मानता है कि अकेला ज्ञानावरणादि-कर्म पिंड रागादि अशुद्ध परिणामों का अपने आप ही व्याप्य-व्यापकरूप से कर्ता है ऐसा भाव गह लेता है और ऐसी ही प्रतीति करता है। इस प्रकार वह स्वयं अपना घातक है और मिथ्यादृष्टि है ॥१२॥

सवैया—**कोइ मूढ़ विकल एकन्त पक्ष गहे कहे,**
आतमा अकरतार पूरण परम है।
तिनसो जो कोउ कहे जीव करता है तासों,
फेरि कहे करमको करता करम है॥
ऐसे मिथ्या मगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव,
जिन्हं के हिए अनादि मोहको भरम है।
तिनको मिथ्यात्व दूर करिवेको कहें गुरु,
स्याद्वाद परमान आतम धरम है॥

दोहा—**चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान।**
नहि करता नहि भोगता, निश्चै सम्यक्वान ॥१२॥

शार्दूलविक्रीडित

मा कर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्याहंताः
कर्त्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्द्धं तूद्धतबोधधाम नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥१३॥

अब स्याद्वाद दृष्टि से जीव का स्वरूप कहते हैं। जिन्होंने जैनोक्त स्याद्वाद स्वरूप को अंगीकार किया है ऐसी जो सम्यग्दृष्टि जीव राशि है वह जैसे सांख्यमती जीव को सर्वथा अकर्ता मानता है वैसे जीव-द्रव्य रागादि अशुद्ध परिणामों का सर्वथा कर्ता नहीं है ऐसा न अंगीकार करे। जैनमती (जीव को) सर्वथा अकर्ता मत मानें, जैसा मानना योग्य है वैसा कहते हैं। सभी काल में जीव का स्वरूप ऐसा है कि शुद्ध स्वरूप सम्यक्त्व परिणमन से भ्रष्ट हुआ मिथ्यादृष्टि जीव जब तक मोह-राग-द्वेष रूप परिणमन कर रहा है तब तक मोह-राग-द्वेष रूप अशुद्ध चेतन परिणामों का कर्ता वह स्वयं है ऐसा अवश्य मानो, ऐसी प्रतीति करो। वही जीव मिथ्यात्व परिणामों के छूटने पर जब अपने शुद्ध स्वरूप सम्यक्त्व भाव में परिणमन करता है तब रागादि अशुद्ध भावों के कर्तापने को छोड़ता है- ऐसी ही श्रद्धा करो, ऐसी ही प्रतीति करो—ऐसा अनुभव करो।

भावार्थ—जैसे जीव का ज्ञानगुण स्वभाव होने से ज्ञानगुण संसार अवस्था या मोक्ष अवस्था में कहीं भी नहीं छूटता, वैसा रागादिपना जीव का स्वभाव नहीं है तथापि संसार अवस्था में जब तक कर्म का संयोग है और जब तक मोह-राग-द्वेष रूप से अशुद्ध भावों में जीव परिणमन कर रहा है तब तक वह कर्ता है। जीव के सम्यक्त्व गुण रूप परिणमन होने के उपरांत तो वह सकल ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिए उतावला ज्ञान का प्रताप मात्र है। स्वय ही स्वयं रूप पर प्रगट हुआ है, चार गतियों में भ्रमण से रहित हुआ है, ज्ञानमात्र उसका स्वरूप है तथा रागादि अशुद्ध परिणति से रहित शुद्ध वस्तु मात्र है ॥१३॥

सवैया—जैसे सांख्यमति कहे अलख अकरता है,
सर्वथा प्रकार करता न होइ कबही।
तैसे जिनमति गुरुमुख एक पक्ष सुनि,
याँहि भाँति मानै सो एकांत तजो अबही॥

जौलौं दुरमति तौलौं करमको करता है,
सुमती सदा अकरतार कह्यो सब ही।
जाके घट ज्ञायक स्वभाव जग्यो जबही सौं,
सोतो जगजालसे निरालो भयो तबही ॥१३॥

मालिनी

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं,
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥१४॥

अब बौद्धमती प्रतिबद्ध किया जाता है। ऐसे कोई जीव जो वर्तमान बौद्धधर्म के मानने वाले हैं वे अपने ज्ञान में कर्त्तापने और भोक्तापने को अलग-अलग कर देते हैं।

भावार्थ—वे ऐसा कहते हैं कि क्रिया का कर्ता कोई अन्य है और भोक्ता कोई अन्य है। क्योंकि एक समय मात्र पहले का जीव दूसरे समय में मूल से विनश जाता है और अन्य नया जीव मूल से उपज आता है। जो चैतन्य स्वरूप जीव द्रव्य अनादि निधन है उसमें उनको यह मिथ्या भ्रांति ऐसी ही हो रही है जैसे कोई अपने नेत्र रोग के कारण श्वेत शंख को पीला देखता है। 'अन्य नया जीव मूल से उपज आता है' इसी मान्यता के कारण वह यह मानता है कि कर्त्ता कोई अन्य जीव है और भोक्ता कोई अन्य जीव है। ऐसे जीव को दृष्टांत से समझाते हैं किसी जीव ने बाल्यावस्था में किसी नगर को देखा और फिर कुछ काल बीत जाने पर तरुण होने पर फिर उसी नगर को देखा तो उसको ऐसा ज्ञान उपजता है कि यह वही नगर है जो मैंने बाल्यावस्था में देखा था। ऐसी जो अतीत-अनागत-वर्तमान में शाश्वत ज्ञान मात्र वस्तु है वह क्षणिकवादी के मिथ्यात्व को दूर करता है। भावार्थ यदि जीव हर क्षण विनश्वर होता तो पूर्व ज्ञान को लेकर जो वर्तमान ज्ञान होता है वह किसको होता है इसलिए जीवद्रव्य सदा शाश्वत है, इस प्रकार क्षणिकवादी प्रतिबद्ध होता है। निश्चय से जीव का जीवन-मूल सदा-काल अविनश्वर है, अपनी शक्ति से आप ही सिद्ध है, ऐसा जानना, अन्यथा नहीं ॥१०॥

दोहा—बौद्ध क्षणिकवादी कहे, क्षण भंगुर तनु मांहि ।
प्रथम समय जो जीव है, द्वितीय समय सो नांहि ॥
तातें मेरे मतविषें, करे करम जो कोय,
सो न भोगवे सर्वथा, और भोगता होय ॥

यह एकंत मिथ्यात पख, दूर करनके काज।
चिद्विलास अविचल कथा, भाषै श्रीजिनराज॥

बालकपन काहू पुरुष, देखो पुर इक कोय।
तरुण भए फिरके लखे, कहे नगर यह सोय॥

जो दुहुपन में एकथो, तो तिहि सुमरण कोय।
और पुरुषको अनुभव्यो, और न जाने जोय॥

जब यह वचन प्रगट सुन्यो, सुन्यो जैनमत शुद्ध।
तब एकांतवादी पुरुष, जैन भयो प्रतिबुद्ध॥

अनुष्टुप्

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा॥१५॥

क्षणिकवादी का और भी प्रतिबोधन करते हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक भेद को अलग-अलग जाने बिना पकड़ बैठना कि 'बस सर्वथा ऐसा ही है'—ऐसा किसी भी जीव को स्वप्न में भी श्रद्धान न हो। किसी दूसरे प्रथम समय में उपजा कोई जीव कर्म का उपार्जन करता है और किसी अन्य दूसरे समय में उपजा जीव उस कर्म को भोगता है, ऐसा एकान्तपना मिथ्यात्व है।

भावार्थ जीव वस्तु द्रव्यरूप है और पर्यायरूप है। द्रव्यरूप से यदि विचार करें तो जो जीव जिस कर्म का उपार्जन करता है वही जीव उदय आने पर उस कर्म को भोगता है और यदि पर्याय दृष्टि से विचार करें तो जिस परिणाम अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का उपार्जन किया था, उनके उदय में आने के समय उन परिणामों का अवस्थान्तर हो जाता है इसलिए कोई अन्य पर्याय करता है और कोई अन्य ही पर्याय भोगती है—ऐसा भाव स्याद्वाद साध सकता है। जैसा बौद्ध मतावलम्बी जीव कहता है वह तो महाविपरीत है। द्रव्य का ऐसा ही स्वरूप है इसमें किसी का क्या चारा है? एक द्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ होती हैं। कोई अवस्था मिटती है और अन्य कोई उपजती है ऐसा अवस्था भेद तो अवश्य है पर इसी अवस्था भेद से छला जाकर कोई बौद्धमत में अवस्थित मिथ्यादृष्टि जीव, जो सत्तारूप शाश्वत वस्तु है उसी की सत्ता का मूल से ही नाश मान लेता है - तो यह तो विपरीतपना है। भावार्थ—पर्याय मात्र को ही वस्तु मान लेना तथा

जिसकी वह पर्याय है उस सत्तामात्र वस्तु को न मानना महा मिथ्यात्व है ॥१५॥

सवैया - एक परजाय एक समंमें विनसि जाय,
दूजी परजाय दूजे समं उपजति है।
ताको छल पकरि के बौद्ध कहे समं समं,
नवो जीव उपजै पुरातन की क्षति है॥
ताते माने करमको करता है और जीव,
भोगता है और, वाके हिए ऐसी मति है।
परजाय प्रमाणको सरवथा दरब जाने,
ऐसे दुरबुद्धि को अवश्य दुरगति है॥

दोहा—कहे अनातम की कथा, चहे न आतम सुद्धि।
रहे अध्यातम सों विमुख, दुराराधि दुरबुद्धि॥
दुरबुद्धी मिथ्यामती, दुरगति मिथ्याचाल,
गहि एकंत दुरबुद्धि सों, मुकत न होइ त्रिकाल ॥१५॥

शार्दूलविक्रीडित

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥१६॥

एकान्तपना मानना सो मिथ्यात्व है। जिसका अभिप्राय ही भिन्न (गलत) है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को शुद्ध चैतन्य वस्तु ठीक से सधती नहीं। द्रव्यार्थिक नय से रहित वर्तमान पर्याय मात्र ही वस्तु का स्वरूप अंगीकार करने रूप एकांत दृष्टि में मग्न और यह मानने वाले बौद्धमतावलम्बी जीव को कि एक समय में एक जीव मूल से ही विनशता है और अन्य जीव मूल से उपजता है, जीव स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। आगे और मतांतर कहते हैं। कोई एकांतवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे हैं जो जीव का शुद्धपना नहीं मानते हैं उसको सर्वथा अशुद्ध मानते हैं, उन्हें भी वस्तु की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि अनन्तकाल से जीव द्रव्य कर्म के साथ मिला चला आ रहा है उससे अलग तो कभी हुआ ही नहीं। अतः वे जीव ऐसी प्रतीति करते हैं कि जीव

द्रव्य अशुद्ध है, शुद्ध है ही नहीं—ऐसा मानने वाले जीवों को भी वस्तु की प्राप्ति नहीं है और मतान्तर कहते हैं। कोई अन्य एकांतवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे हैं जो कर्म की उपाधि को नहीं मानते है और जीव को सर्व काल सर्वथा शुद्ध मानते हैं, उनको भी वस्तु की प्राप्ति नहीं है। स्याद्वाद सूत्र के बिना उस मोक्ष को यदि चाहा जाए जिसका सकल कर्म का क्षय ही लक्षण है, तो वह वैसे ही नहीं मिल सकता जैसे बिना सूत्र के हार नहीं बनता।

भावार्थ—जैसे सूत बिना मोती नहीं सध सकते उसी प्रकार स्याद्वाद सूत्र का ज्ञान पाये बिना एकान्तवादियों को आत्मा का स्वरूप नहीं सधता अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए जो जीव सुख चाहे वह जैसे स्याद्वाद सूत्र से आत्मा का स्वरूप सधता है वैसा ही माने ॥१६॥

कवित्त—केई कहे जीव क्षणभंगुर, केई कहे करम करतार।
केई कर्म रहित नित जंपहि, नय अनन्त नाना परकार॥
जे एकान्त गहे ते मूरख, पंडित अनेकान्त पखधार।
जैसे भिन्न भिन्न मुक्ताहल, गुणसों गहत कहावे हार॥

दोहा—यथा सूत संग्रह बिना, मुक्त माल नहिं होय।
तथा स्याद्वादी बिना, मोक्ष न साधे कोय॥१६॥

शार्दूलविक्रीडित

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः॥१७॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप के अनुभव में प्रवीण है उसको समस्त विकल्पों से रहित निर्विकल्प सत्ता मात्र चैतन्य स्वरूप का स्वसंवेदन के द्वारा प्रत्यक्षरूप से अनुभव करना योग्य है। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय कर्ता का और भोक्ता का भेद दिखाते हैं। अन्य पर्याय करती है और अन्य पर्याय भोगती है, ऐसा पर्यायार्थिक नय से भेद हो तो हो—ऐसा साधने से साध्य की सिद्धि तो कोई नहीं है। अथवा द्रव्यार्थिक नय से जो द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मों को करता है, वही भोक्ता है—ऐसा भी है तो ऐसा ही हो

इसमें भी साध्य की सिद्धि कुछ नहीं है। उसी प्रकार कर्तृत्व नय के विचार से जीव अपने भावों का करता है और भोक्तृत्व नय के विचार से जिस रूप परिणमन करता है उन परिणामों का भोक्ता है—यह जैसा भी कुछ है वैसा ही हो। इन विचारों में शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं होता कारण कि ऐसा सब विचारना अशुद्धरूप विकल्प है। इसके विपरीत अकर्तृत्व नय से जीव अकर्ता है, अभोक्तृत्व नय से भोक्ता नहीं है—ऐसे विचारों से भी शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं है। अन्य करता है अन्य भोगता है, ऐसा विकल्प, जीव कर्ता है भोक्ता है, ऐसा विकल्प; जीव कर्ता नहीं है भोक्ता नहीं है, ऐसा विकल्प; इत्यादि अनंत नय जनित विकल्प है परन्तु इनमें से कोई भी विकल्प किसी भी काल में शुद्ध वस्तु मात्र जो जीवद्रव्य है उसके शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप स्थापित करवाने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ—कोई अज्ञानी यदि ऐसा जाने कि यहां ग्रन्थकर्ता आचार्य ने कर्तापने को—अकर्तापने को—भोक्तापने को—अभोक्तापने को बहुत भांति से वर्णित किया है तो क्या इसमें अनुभव की प्राप्ति अधिक है? उसका समाधान है कि समस्त नय विकल्पों के द्वारा शुद्ध स्वरूप का अनुभव सर्वथा नहीं है। यहां ज्ञान कराने के लिए शास्त्रों में बहुत नय तथा युक्तियां करके दिखाया है। शुद्ध चेतना तो हमको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, समस्त विकल्पों से रहित है। उस अनन्त शक्ति गर्भित चेतना मात्र वस्तु की सर्वथा प्रकार हमको प्राप्ति हो। भावार्थ— निर्विकल्प का अनुभव उपादेय है। अन्य समस्त विकल्प हेय हैं। जैसे कोई व्यक्ति मोतियों की माला पिरोते समय अनेक विकल्प करता है, वे सब झूठे हैं। विकल्पों में शोभा उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। शोभा तो जो मोती मात्र वस्तु है उसमें है। इसलिए पहनने वाला पुरुष मोती की माला जान कर पहनता है, गूथने के विकल्पों के विचार से नहीं। देखने वाला भी मोतियों की माला जान कर उसकी शोभा देखता है, गूथने के विकल्पों को नहीं देखता। उसी तरह शुद्ध चेतना मात्र की सत्ता का अनुभव करना योग्य है। उसमें बहुत विकल्प घटित होते हैं परन्तु उनकी सत्ता का अनुभव करना योग्य नहीं है ॥१७॥

सवैया—एकमें अनेक हैं अनेक ही में एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यो न परत है।
करता अकरता है भोगता अभोगता है,
उपजे न उपजत मुए न मरत है ॥

बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु,
भेखको न भाजन पै भेखसो न धरत है।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन की संगति सों,
उलट पलट नट बाजी सी करत है॥

दोहा—नट बाजी विकलप दशा, नांही अनुभौ जोग।
केवल अनुभौ करनको, निर्विकल्प उपयोग॥

सवैया—जैसे काहू चतुर सवांरी है मुकत माल,
माला की क्रिया में नानाभांति को विग्यान है।
क्रिया को विकलप न देखे पहिरन वारो,
मोतिनकी शोभामें मगन सुखवान है।
तैसे न करे न भुंजे अथवा करेसो भुंजे,
और करे और भुंजे सब नय प्रमान है।
यद्यपि तथापि विकलपविधि त्याग योग,
निरविकलप अनुभौ अमृतपान है ॥१७॥

उपजाति

व्यवहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥१८॥

प्रश्न—ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गल पिंड का कर्ता जीव है या नहीं है?

उत्तर—कहने मात्र को तो कर्मरूप पुद्गल पिंड का कर्ता जीव है परन्तु वस्तु के स्वरूप का विचार करें तो कर्ता नहीं है। झूठी व्यवहार दृष्टि से ही ऐसा कहते है। कर्ता और किया गया कार्य भिन्न-भिन्न है अतः जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता है ऐसा कहने भर को है। बात तो यूं है कि रागादि अशुद्ध परिणामों को जीव करता है और रागादि अशुद्ध परिणामों के होने पर पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप परिणमन करता है—इस कारण ऐसा कह देते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने ही किए परन्तु ऐसा कहना झूठ है। सच्ची व्यवहार दृष्टि से स्वद्रव्य-परिणाम तथा परद्रव्य-परिणाम-रूप वस्तु का स्वरूप यदि देखें तो द्रव्य अपने परिणामों में ही सदाकाल परिणमन करता है अर्थात् जो जीव अथवा पुद्गल द्रव्य जिन अपने परि-णामों से व्याप्य-व्यापक रूप है उनका वही कर्ता है और परिणाम उस द्रव्य

से व्याप्य-व्यापक रूप है अतः उसी का कर्म है—विचार करने पर ऐसा ही घटता है व अनुभव में आता है। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्ता है अथवा अन्य द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य का कर्म है ऐसा तो अनुभव में घटता नहीं क्योंकि दो द्रव्यों में परस्पर व्याप्य-व्यापकपना नहीं है ॥१८॥

दोहा—द्रव्यकर्म कर्ता अलख, यह व्यवहार कहाव।
निश्चै जो जैसो दरव, तैसो ताको भाव ॥१८॥

पृथ्वी

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरं।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥१९॥

जीव का स्वभाव है कि वह सकल ज्ञेय को जानता है, ऐसा जान कर कोई मिथ्यादृष्टि जीव अपने अज्ञानपने के कारण जीव को समस्त ज्ञेय वस्तु को जानने के कारण अशुद्ध मान कर उसे शुद्ध स्वरूप से स्खलित (रहित) जान कर क्यों खेद खिन्न होता है। परन्तु यह नियम से अविनश्वर शक्ति-युक्त चेतनाशक्ति का अपना स्वभाव ही है कि अन्य जीव द्रव्य अथवा पुद्गल द्रव्य उसके अनुभवगोचर हो यद्यपि प्रत्यक्षरूप से ऐसा है कि जीव द्रव्य समस्त ज्ञेय को जानकर ज्ञेयाकार रूप परिणमन करता है, तो भी कोई एक जीव द्रव्य अथवा पुद्गल द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं करता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

भावार्थ—जीव द्रव्य समस्त ज्ञेय वस्तु को जानता है ऐसा तो स्वभाव है परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है और ज्ञेय भी ज्ञानरूप परिणमन नहीं करता, ऐसी वस्तु की मर्यादा है ॥१९॥

सवैया—ज्ञानको सहज ज्ञेयाकार रूप परिणाम,
यद्यपि तथापि ज्ञान ज्ञानरूप कह्यो है।
ज्ञेय ज्ञेयरूपसों अनादि ही की मरयाद,
काहू वस्तु काहूको स्वभाव नहिं गह्यो है॥
एते परि कोउ मिथ्यामति कहै ज्ञेयाकार,
प्रतिभासनिसों ज्ञान अशुद्ध ह्वै रह्यो है।

याही दुरबुद्धिसों विकल भयो डोलत है,
समुझे न धरम यों भर्म मांहि बह्यो है ॥१९॥

रथोद्धता

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरो परस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२०॥

इसी अर्थ को और बल देकर समझाते हैं—जीव द्रव्य अथवा पुद्गल द्रव्य अपनी-अपनी सत्तारूप जैसे हैं वैसे ही हैं। अन्य किसी द्रव्य से सर्वथा नहीं मिलते - ऐसे द्रव्यों के स्वभाव की मर्यादा है। इस कारण, निश्चय से, द्रव्य वस्तु अपने स्वरूप में जैसा है वैसी ही है ऐसा ही परमेश्वर ने कहा है और अनुभव में भी यही आता है। जीव द्रव्य ज्ञेय वस्तु को यद्यपि जानता है तथापि उससे सम्बन्धरूप (एकरूप) नहीं हो सकता।

भावार्थ—वस्तु स्वरूप की ऐसी मर्यादा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य से एकरूप नहीं होता है। इसके उपरान्त भी जीव का स्वभाव ज्ञेय वस्तु को जानने का हो तो हो, उसमें भी धोखा तो कोई नहीं है। जीव द्रव्य ज्ञेय वस्तु को जानता हुआ अपने स्वरूप में है ॥२०॥

चौपाई—सकल वस्तु जगमें असहाई। वस्तु वस्तुसों मिले न काई ॥
जीव वस्तु जाने जग जेती। सोऊ भिन्न रहे सब सेती ॥२०॥

रथोद्धता

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१॥

कोई आशंका उठाए कि जैन सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है कि जीव ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म को करता है, भोगता है। तो उसका यह समाधान है कि झूठे व्यवहार से कहने भर को ऐसा है। द्रव्य के स्वरूप का विचार करें तो परद्रव्य का कर्ता जीव नहीं है। ऐसी भी एक कहावत है कि कोई चेतना लक्षणयुक्त जीव द्रव्य अपने परिणामों की शक्ति से ज्ञानावरणादि रूप परिणमन करता है और ऐसे किसी पुद्गल द्रव्य का कर्ता है—ऐसा अभिप्राय झूठी व्यवहार दृष्टि से है। वस्तु के स्वरूप के विचार से ऐसा अभिप्राय नहीं है।

भावार्थ— ऐसी कोई बात सत्य नहीं है, मूल मे झूठ है, ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ ॥२१॥

दोहा—कर्म करे फल भोगवे, जीव अज्ञानी कोय।
यह कथनी व्यवहार की, वस्तुस्वरूप न होय ॥२१॥

शार्दूलविक्रीडित

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२॥

समस्त संसारी जीव राशि का इस अनुभव मे भ्रष्ट होने का कोई कारण नही है कि जीव वस्तु सर्वकाल शुद्ध स्वरूप है व समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानती है।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप तो प्रगट है इसमें भ्रम में क्यों पड़ा जाय? ऐसी बुद्धि करना कि समस्त ज्ञेय वस्तु को जानना है इसलिए जीव अशुद्ध हो गया है और ज्ञेयवस्तु का जानपना छूट कर ही वह शुद्ध होगा भ्रम है। ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानना है यह तो ठीक ही है यह शुद्ध जीव वस्तु का स्वरूप है। भावार्थ—जैसे अग्नि का दाहक स्वभाव है और वह समस्त दाह्य वस्तु को जलाती है परन्तु जलाते हुए भी अग्नि अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है—अग्नि का ऐसा ही स्वभाव है। उसी तरह जीव ज्ञान स्वरूप है और वह समस्त ज्ञेय को जानता है परन्तु जानते हुए भी अपने स्वरूप है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जो ज्ञेय को जानने मे जीव को अशुद्ध मानते हैं सो ऐसा नहीं है, जीव शुद्ध है। कोई भी ज्ञेयरूप पुद्‌गल द्रव्य अथवा धर्म-अधर्म-अकाश-काल द्रव्य शुद्ध जीव वस्तु मे मिलकर एक द्रव्यरूप परिणमन करे—ऐसा नहीं शोभता है। भावार्थ—जीव समस्त ज्ञेय को जानता है फिर भी ज्ञान ज्ञानरूप है और ज्ञेय वस्तु ज्ञेय रूप है। कोई द्रव्य अपना द्रव्यत्व छोड़ कर अन्य द्रव्यरूप तो नहीं हुआ, ऐसा अनुभव उस जीव को होता है जो समस्त विकल्पों से रहित शुद्ध चेतना मात्र जीव वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव में अपनी बुद्धि के सर्वस्व को लगाता है तथा सत्तामात्र शुद्ध जीव वस्तु का प्रत्यक्ष रूप से आस्वादन करता है। भावार्थ—जीव समस्त ज्ञेय मे भिन्न है ऐसा वस्तु का स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीव जानता है ॥२२॥

कवित्त—ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहीं होय।
ज्ञेयरूप षट् द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय॥
जानै भेद भावसो विचक्षण, गुण लक्षण सम्यक्दृष्टि जोय।
मूरख कहै ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलंक लखै नहि कोय॥२२॥

मंदाक्रांता

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥२३॥

जीव की अर्थग्रहण शक्ति स्व और पर से सम्बन्धित जितनी भी ज्ञेय वस्तु है उन सबको एक समय में द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद से जैसी है वैसी जानती है परन्तु निश्चय से ज्ञेय वस्तु ज्ञान से सम्बन्धरूप (एक रूप) नहीं है जैसे चांद की किरणें फैल कर भूमि को श्वेत करती है, चांद की किरणों के प्रसार के सम्बन्ध से भूमि किरणरूप नहीं होती।

भावार्थ—जिस प्रकार चांद की किरणों के फैलने से सारी भूमि श्वेत हो जाती है तब चांद की किरणों का भूमि से जैसा सम्बन्ध होता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानता है तो भी ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जो ऐसा नहीं मानता उसको युक्ति से इस प्रकार समझाते हैं। शुद्ध द्रव्य अर्थात् सत्ता मात्र वस्तु अपने-अपने स्वभाव में ही रहती है। भावार्थ—सत्ता मात्र वस्तु निर्विभाग, एकरूप है, उसके दो भाग नहीं होते। यदि अनादि-निधन सत्तारूप वस्तु किसी अन्य सत्तारूप हो जाए तो जो पहले सत्तारूप वस्तु सधी हुई थी उसका जो पहले का स्वभाव था वह अन्य स्वभावरूप हो जाएगा और चूंकि पूर्व सत्ता में से यह नई सत्ता उत्पन्न हुई तो पूर्व सत्ता का विनाश हो जाएगा। भावार्थ—जैसे जीव द्रव्य चेतना सत्तारूप है, निर्विभाग है तो वह चेतना सत्ता यदि कभी पुद्गल द्रव्य अचेतनारूप हो जाए तो चेतना सत्ता का विनाश होने को कौन रोक सकता है? सो वस्तु का स्वरूप ऐसा तो नहीं है। इसलिए जो द्रव्य जैसा है वैसा ही है अन्यथा होता नहीं। इसीलिए

जीव का ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है तो भी अपने ही स्वरूप है ॥२३॥

सवैया—जैसे चन्द्र किरण प्रगटि भूमि स्वेत करे,
भूमिसी न होत सदा ज्योतिसी रहत है।
तैसे ज्ञान सकति प्रकासे हेय उपादेय,
ज्ञेयाकार दीसे पै न ज्ञेय को गहत है॥
शुद्ध वस्तु शुद्ध परयायरूप परिणमे,
सत्ता परमाण मांहि ढाहे न ढहत है।
सोतो औररूप कबहू न होय सरबथा,
निश्चय अनादि जिनवाणि यों कहत है ॥२३॥

मंदाक्रांता

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यं।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२४॥

इष्ट की अभिलाषा और अनिष्ट में उद्वेग इन दोनों जाति के अशुद्ध परिणाम है वे तब तक होते हैं जब तक जीव द्रव्य अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव रूप मे परिणमन नहीं करता है।

भावार्थ—जितने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है उतने काल तक उसका राग-द्वेष रूप अशुद्ध परिणमन नहीं मिटता। ज्ञान होने पर उसकी ज्ञानावरणादि कर्म अथवा रागादि अशुद्ध परिणामों में ज्ञेय मात्र बुद्धि शेष रह जाती है। भावार्थ—ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि जीव के लिए ज्ञानावरणादि कर्म जानने मात्र का विषय रह जाते हैं कोई जैसा तैसा कर्म के उदय का कार्य करने की उनकी सामर्थ्य नहीं रह जाती हैं। इसलिए जीव वस्तु शुद्ध परिणति रूप होकर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ होओ। ज्ञान शुद्ध ज्ञान के अनुभव के द्वारा मिथ्यात्वरूप परिणामों को दूर करता है और जैसा द्रव्य का अनंत चतुष्टय है वैसा प्रगट होता है। भावार्थ- स्वभाव से मुक्ति की प्राप्ति होती है। चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय को सर्वथा दूर करके जीव का स्वरूप प्रगट होता है ॥२४॥

सवैया—राग विरोध उदै जबलौं, तबलौं यह जीव मृषा मग धावै।
ज्ञान जग्यो जब चेतनको तब, कर्म दशा पर रूप कहावै॥
कर्म विलक्ष करै अनुभौ तहां, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावै।
मोह गये उपजै सुख केवल, सिद्ध भयो जगमांहि न आवै॥२४॥

मंदाक्रांता

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावा-
त्तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥२५॥

इसलिए शुद्ध चैतन्य का अनुभव करने वाला जो जीव है वह प्रत्यक्ष-रूप से शुद्ध जीव स्वरूप के अनुभव के द्वारा राग-द्वेष दोनों को मूल से मिटा कर दूर करे। राग-द्वेष के मिटने पर शुद्ध जीव का स्वरूप जैसा है वैसा सहज ही प्रकट होता है। वह ज्ञानज्योति सर्वकाल अपने स्वरूप रूप है। जीव द्रव्य अनादि से संयोग से उपजी मिथ्यात्वरूप विभाव परिणति के कारण वर्तमान संसार अवस्था में राग-द्वेष रूप अशुद्ध परिणति से व्याप्य-व्यापकरूप स्वयं परिणमन करता है अतः राग-द्वेष दोनों जाति के अशुद्ध परिणाम सत्ता स्वरूप की दृष्टि से विचार करने पर कुछ भी चीज नहीं है।

भावार्थ- जैसे सत्ता रूप एक जीव द्रव्य है राग-द्वेष कोई द्रव्य नहीं है वे जीव की विभाव परिणति है। सो जीव यदि अपने स्वभाव से परिणमन करे तो राग-द्वेष सर्वथा मिट जाए। ऐसा होना सुगम है, कुछ मुश्किल नहीं है। अशुद्ध परिणति मिटती है, शुद्ध परिणति होती है॥२५॥

छप्पै— जीव कर्म संयोग, सहज मिथ्यात्वरूप धर।
राग दोष परिणति प्रभाव, जानै न आप पर॥
तम मिथ्यात्व मिटि गयो, भयो समकित उद्योत शशि।
राग-द्वेष कछु वस्तु नाहिं, छिन मांहि गए नशि॥
अनुभव अभ्यास सुख राशि रमि, भयो निपुण तारण तरण।
पूरण प्रकाश निहचल निरखि, बनारसी वंदत चरण॥२५॥

उपजाति

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्ताऽत्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२६॥

कोई ऐसा माने कि जीव का स्वभाव तो राग-द्वेष रूप परिणमने का नहीं है परन्तु (पर-द्रव्य) ज्ञानावरणादि कर्म तथा संसार भोग सामग्री जबरजोरी से जीव को राग-द्वेष रूप परिणमन करवाते हैं सो ऐसा नहीं है। जीव की विभावरूप परिणमन करने की शक्ति जीव में ही है इसलिए मिथ्यात्व परिणति के कारण राग-द्वेष रूप जीव द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, दूसरे किसी द्रव्य की इस तरह की कोई सामर्थ्य नहीं है। आठ कर्म अथवा शरीर-मन-वचनरूप-नोकर्म अथवा बाह्यभोग सामग्री रूप जितने भी पर द्रव्य हैं, यदि द्रव्य की सच्ची दृष्टि से देखें तो, वे कोई भी अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष परिणामों को उपजाने में समर्थ नहीं दिखाई देते। इसी अर्थ को और पुष्ट करने के हेतु कहते हैं सब द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश) का अखण्ड धारारूप परिणाम अपने ही प्रगट रूप में अपने-अपने स्वरूप में है, यह ही अनुभव से ठहरता है और ऐसी ही वस्तु ठहरती है। इससे अन्यथा विपरीत है ॥२६॥

सवैया—कोउ शिष्य कहै स्वामी राग-द्वेष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है।
पुद्गल करम जोग किधौं इंद्रिन के भोग,
कौंधौं धन, कौधौं परिजन, कौंधौ भौन है॥
गुरु कहै छहौं द्रव्य अपने अपने रूप,
सबनि को सदा असहाई परिनौन है।
कोउ द्रव्य काहूको न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग-द्वेष-मोह-मृषा मदिरा अचौन है ॥२६॥

काव्य

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।

स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२७॥

जीवद्रव्य संसार अवस्था में राग-द्वेष-मोह अशुद्ध चेतनरूप परिणमन करता है सो वस्तु के स्वरूप का विचार करें तो यह जीव का दोष है, पुद्गल द्रव्य का कोई दोष नहीं है। कारण कि जीव द्रव्य अपने विभाव–मिथ्यात्व में परिणमन करता हुआ अपने अज्ञानवश राग-द्वेष-मोह रूप अपने आप परिणमन करे तो पुद्गल द्रव्य की उस पर क्या सामर्थ्य है? अशुद्ध अवस्था में रागादि अशुद्ध परिणति होती है तब उन अशुद्ध परिणति के होने में अधिक तथा कम जितना भी ज्ञानावरणादि कर्म का उदय है अथवा शरीर मन-वचन है अथवा पंचेन्द्रिय भोग सामग्री इत्यादि सामग्री है उनका किसी का तो कोई दोष नहीं है। वह तो संसारी जीव अपने आप मिथ्यात्वरूप परिणति कर शुद्ध स्वरूप के अनुभव से भ्रष्ट होने से, कर्म के उदय से हुए अशुद्ध भाव को अपना स्वयं का भाव मानता है तब उस पर अज्ञान का अधिकार होकर राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति होती है।

भावार्थ—जब जीव अपने आप ही मिथ्यादृष्टि होकर परद्रव्य को अपना मान कर अनुभव करे तब उसको राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति होने से कौन रोक सकता है? इसमें पुद्गल कर्म का क्या दोष है? रागादि अशुद्ध परिणति रूप जीव परिणमन करता है सो जीव का दोष है, पुद्गल द्रव्य का दोष नहीं है। इसलिए जो मोह-राग-द्वेष रूप अशुद्ध परिणति है उसका विनाश होने पर मैं शुद्धरूप, अविनश्वर, अनादिनिधन, जैसा हूं वैसा विद्यमान ही हूं। भावार्थ—जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है उसमें मोह-राग-द्वेष रूप जो अशुद्ध परिणति है उसको मिटाने का यही सहज उपाय है कि जीव द्रव्य शुद्ध-स्वरूप में परिणमन करे तो अशुद्ध परिणति मिट जाए। और कोई भी क्रिया या उपाय नहीं है। उस अशुद्ध परिणति के मिटने से ही जीव वस्तु जैसी है वैसी ही है उसमें न कुछ घटता है न बढ़ता है ॥२७॥

दोहा—कोउ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिणाम।
पुद्गल की जोरावरी, वरते आतमराम॥
ज्यों ज्यों पुद्गल बल करे, धरि धरि कर्मज भेष।
राग द्वेष को परिणमन, त्यों त्यों होय विशेष॥
इहविधि जो विपरीत पख, गहे सद्दहे कोय।
सो नर राग विरोध सों, कबहुं भिन्न न होय ॥२७॥

उपजाति

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२८॥

उपरोक्त अर्थ को और प्रगाढ़ करते हुए कहते हैं कि समस्त उपाधि से रहित जीव वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभवसे रहित होने के कारण मिथ्यादृष्टि जीव-राशि मोह-राग-द्वेषवाली अशुद्ध परिणति रूप शत्रु को सेना को नहीं मिटा सकती।

प्रश्न—जिस जीव का सर्वस्व ज्ञान सम्यक्त्व से शून्य है उसका अपराध क्या है?

उत्तर—अपराध है, वही कहते हैं। कोई मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणति में परिणमन कर रहा है उसके विषय में कोई ऐसी श्रद्धा करे कि आठ कर्म, शरीर आदि नोकर्म तथा बाह्य सामग्री इत्यादि पुद्गल द्रव्य का निमित्त पाकर वह जीव रागादि अशुद्ध रूप परिणमन करता है, तो वह मिथ्यादृष्टि है, अनन्त संसारी है क्योंकि निःसंग से अगर संसारी जीव की रागादि अशुद्ध परिणमन करने की शक्ति नहीं है और पुद्गल कर्म उसको बरजोरी से अशुद्ध परिणमन करवाता है तो पुद्गल कर्म तो सब काल में विद्यमान ही है फिर जीव को शुद्ध परिणमन का अवसर तो कहां मिलेगा अपितु कोई अवसर नहीं रहेगा ॥२८॥

दोहा—सुगुरु कहे जग में रहे, पुद्गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिणाम को, औसर लहे न जीव ॥
तातैं चिदभावन विषै, समरथ चेतन राव।
राग विरोध मिथ्यातमें, सम्यक में शिव भाव ॥२८॥

शार्दूलविक्रीडित

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२९॥

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करता है कि जब जीव द्रव्य ज्ञायक है और समस्त ज्ञेय को जानता है तो परद्रव्य को जानते हुए उससे

थोड़ी बहुत तो रागादि अशुद्ध परिणति होती ही। इसका उत्तर है कि परद्रव्य का जानना हुआ उस रूप तो निरंशमात्र भी नहीं होता। अपना विभाव परिणति करने से विकार होता है और अपना परिणमन शुद्ध हो तो निर्विकार है। आगे कहते हैं कि यह जो मिथ्यादृष्टि जीवराशि है वह राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणति में मग्न क्यों हो रही है? सकल पर द्रव्य से भिन्नपना तो सहज ही प्रगट है फिर वह ऐसी प्रतीति को क्यों छोड़ती है?

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप तो प्रगट है—फिर भी यह उससे विचलित होती है यह एक पूरा अचंभा है। अज्ञानी जीव की ऐसी बुद्धि है कि वह शुद्ध जीव द्रव्य के स्वभाव के अनुभव से शून्य है। चेतना मात्र जीव द्रव्य तो समस्त ज्ञेय का जानता है इसलिए राग-द्वेष-मोह रूप किसी भी विक्रिया में परिणमन नहीं करता है। वह जीव द्रव्य अखंड है, समस्त विकल्पों से रहित है, अनन्तकाल तक भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित है तथा उसका सर्वस्व ज्ञानगुण ही है। जैसे दीपक के प्रकाश से बाएं-दाएं-ऊपर-नीचे-आगे-पीछे उजाला करके घड़ा-कपड़ा इत्यादि देखते हैं परन्तु दीपक में उससे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। भावार्थ जिस तरह दीपक प्रकाशरूप है और घटपटादि अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करता है परन्तु प्रकाशित करता हुआ जो अपना प्रकाश मात्र स्वरूप था वैसा ही है उसमें विकार तो कोई देखा नहीं जाता उसी तरह जीव द्रव्य ज्ञान-स्वरूप है, समस्त ज्ञेय को जानता है। जानते हुए भी उसका जो अपना ज्ञानमात्र स्वरूप था, वह वैसा ही है। ज्ञेय को जानने में कोई विकार नहीं होता ऐसे वस्तु के स्वरूप को जो नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है ॥२९॥

दोहा—ज्यों दीपक रजनी समें, चहुं दिशि करे उदोत।
प्रगटे घट घट रूपमें, घट पट रूप न होत॥
त्यों सुज्ञान जाने सकल, ज्ञेय वस्तुको मर्म।
ज्ञेयाकृति परिणमें, पै तजै न आतम धर्म॥
ज्ञानधर्म अविचल सदा, गहे विकार न कोय।
राग विरोध विमोहमय, कबहूं भूलि न होय॥
ऐसो महिमा ज्ञानकी, निश्चय है घटमांहि।
मूरख मिथ्यादृष्टि सों, सहज विलोके नांहि॥
पर स्वभाव में मगन ह्वै, ठाने राग विरोध।
धरे परिग्रह धारना, करे न आतम शोध॥२९॥

शार्दूलविक्रीडित

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥३०॥

निरन्तर अपने शुद्धरूप का जो सम्यक्दृष्टि जीव अनुभव करता है वह रागद्वेष से रहित, अपने आत्मीक रस से जगत का मानों सिंचन करने वाली और सकल ज्ञेय को जानने में समर्थ चैतन्य प्रकाश ही जिसका सर्वस्व है ऐसी ज्ञान चेतना का स्वाद लेता है, उसको प्राप्त करता है। ज्ञान चेतना का वह स्वरूप जीव की अपनी राग रूप अशुद्ध परिणति से रहित अतिगाढ़ चारित्रगुण की सामर्थ्य अथवा प्रताप से प्रगट होता है। सम्यग्दृष्टि जीव का शुद्ध ज्ञान रागद्वेष इत्यादि जितने भी अशुद्ध परिणतिरूप जीव के विकार भाव है उनसे रहित हुआ है तथा जितने भी अतीत काल अथवा आगामी काल से सम्बंधित नाना प्रकार के असंख्यात लोक मात्र रागादिरूप अथवा सुखदुःख रूप अशुद्ध चेतना के विकल्प है उनसे वह सर्वथा रहित है तथा वर्तमान काल में जो कर्मों के उदय से शरीर, सुखदुःख रूप विषयभोग सामग्री इत्यादि उन्हें प्राप्त हुई है उनके प्रति वे परम उदासीन है।

भावार्थ—सम्यक्दृष्टि जीव त्रिकाल सम्बन्धी कर्मों के उदय की सामग्री से विरक्त होता हुआ शुद्ध चेतना को पाता है, उसका आस्वादन करता है ॥३०॥

सवैया जहां शुद्ध ज्ञानकी कला उद्योत दीसै तहाँ,
शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्र को अंश है।
ता कारण ज्ञानी सब जानै ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्य विलास धर्म वाको सरवंश है॥
रागद्वेष मोहकी दशासौं भिन्न रहे यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जालकौं विध्वंस है।
निरुपाधि आतम समाधि में विराजै तातैं,
कहिए प्रगट पूरण परम हंस है ॥३०॥

उपजाति

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं ।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥३१॥

अब ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना का फल कहते हैं। रागद्वेष मोह रूप अशुद्ध परिणति के बिना शुद्ध जीव स्वरूप के निरन्तर अनुभव रूप ज्ञान की परिणति में सर्वथा निरावरण केवलज्ञान प्रगट होता है।

भावार्थ कारण के सदृश ही कार्य होता है इसलिए ऐसा घटित होता है कि शुद्ध ज्ञान के अनुभव में शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर निश्चय से, रागद्वेष मोह रूप तथा सुखदुःखादि रूप जीव की अशुद्ध परिणति होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का अवश्य बन्ध होता हुआ केवल ज्ञान की शुद्धता को रोकता है। भावार्थ—ज्ञान चेतना मोक्ष का मार्ग है तथा अज्ञान चेतना संसार का मार्ग है ॥३१॥

दोहा—ज्ञायकभाव जहाँ तहाँ, शुद्ध चरण की चाल ।
ताते ज्ञान विराग मिलि, शिव साधे समकाल ॥
यथा अंध के कंध पर चढ़े पंगु नर कोय ।
याके दृग वाके चरण, होय पथिक मिलि दोय ॥
जहाँ ज्ञान क्रिया मिले, तहाँ मोक्ष मग सोय ।
वह जाने पद को मरम, वह पद में थिर होय ॥
ज्ञान जीव की सजगता, कर्म जीव की भूल ।
ज्ञान मोक्ष अंकूर है, कर्म जगत को मूल ॥
ज्ञान चेतना के जगे, प्रगटे केवल राम ।
कर्म चेतना में बसे, कर्म बंध परिणाम ॥३१॥

आर्या

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥३२॥

सम्यक् दृष्टि जीव जितने भी द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म हैं उन सबका स्वामित्व छोड़ कर कर्म चेतना और कर्म फल चेतना रूप जो अशुद्ध परिणति है उनको मिटाने का अभ्यास करता है कि मैं शुद्ध चैतन्य रूप जीव

सकल कर्म की उपाधि से रहित हूं ऐसा मेरा स्वानुभव में प्रत्यक्ष रूप मुझे आस्वाद में आता है।

अशुद्ध परिणति का ब्योरा - एक अशुद्ध परिणति अतीत काल के विकल्प रूप है कि मैंने ऐसा किया था, ऐसा भोगा था इत्यादि। एक अशुद्ध परिणति आगामी काल के विषय में सम्बन्धित है कि मैं ऐसा करूंगा, करने से ऐसा होगा इत्यादि। एक अशुद्ध परिणति वर्तमान विषय रूप है कि मैं देव हूं, मैं राजा हूं, मेरे पास ऐसी सामग्री है, मुझे ऐसा सुख अथवा दुःख इत्यादि प्राप्त है। एक ऐसा भी विकल्प है कि अमुक हिंसादि क्रिया मैंने की, अमुक हिंसादि क्रिया अन्य किसी जीव को उपदेश देकर करवाई या किसी के द्वारा स्वयं सहज की हुई हिंसादि क्रिया में सुख माना। और एक ऐसा भी विकल्प है जो मन में कुछ चिंतन करना, वचन से कुछ बोलना और काया से प्रत्यक्ष रूप में कुछ करना। इन सब विकल्पों को विस्तार से देखें तो उनचास भेद होते हैं—ये सभी जीव का स्वरूप नहीं है, पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं ॥३२॥

चौपाई—जब लग ज्ञान चेतना न्यारी। तब लग जीव विकल संसारी ॥
जब घट ज्ञान चेतना जागी। तब समकिती सहज वैरागी ॥
सिद्ध समान रूप निज जानै। पर संजोग भाव पर मानै ॥
शुद्धातम अनुभव अभ्यासै। त्रिविध कर्म की ममता नासै ॥

दोहा—ज्ञानवंत अपनी कथा, कहे आप सों आप।
मैं मिथ्यात्व दशा विषैं, कीने बहुविधि पाप ॥

सवैया—हिरदै हमारे महा मोह की विकलताई,
तातैं हम करुणा न कीनी जीव घात की।
आप पाप कीनें औरन को उपदेश दीनें,
हुती अनुमोदना हमारे याही बातकी ॥
मन वच कायामें मगन ह्वै कमायो कर्म,
धाये भ्रम जालमें कहाए हम पातकी।
ज्ञानके उदय भए हमारी दशा ऐसी भई,
जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥३२॥

उपजाति

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३३॥

कर्मों के उदय में आत्मबुद्धि होने से शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होकर जो मेरी रागादि अशुद्ध परिणति हुई थी उसका त्याग कर तथा अपने द्वारा पहले किए हुए अशुद्ध कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं अब स्वयं ही चेतनामात्र वस्तु के शुद्ध स्वरूप में अनुभव रूप से प्रवर्तन करता हूं। मेरा शुद्ध स्वरूप सर्वकाल में ज्ञान मात्र है और समस्त कर्मों की उपाधि से रहित है ॥३३॥

सवैया—ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवन्त कहे,
करुणा निधान अमलान मेरो रूप है।
कालसों अतीत कर्म जालसों अजीत जोग,
जालसों अजीत जाकी महिमा अनूप है ॥
मोहको विलास यह जगतको वास मैं तो,
जगतसों शून्य पाप पुन्य अन्ध कूप है।
पाप किनि किए कौन करे करि है सो कौन,
क्रियाको विचार सुपनेकी दौर धूप है ॥३३॥

उपजाति

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥३४॥

जितना भी अशुद्धपना अथवा मिथ्यात्व के प्रभुत्वपने के कारण फैला हुआ ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म पिंड जो वर्तमान काल में उदय रूप है वे शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा विचार करके मैं उनमें स्वामित्वपना छोड़ता हूं और पर द्रव्य की बिना सहायता के अपनी ही सामर्थ्य से अपने में सर्वथा उपादेय बुद्धि करके प्रवर्तन करता हूं। मैं शुद्ध चेतना मात्र स्वरूप हूं और समस्त कर्मों की उपाधि से रहित हूं ॥३४॥

दोहा—करनी हितहरनी सदा, मुकति वितरनी नाहि।
गनी बंध पद्धति विषै, सनी महादुःख माहि ॥

सवैया—करनी की धरनी में महा मोह राजा बसे,
करनी अज्ञान भाव राक्षसकी पुरी है।
करनी करम काया पुद्गल की प्रति छाया,
करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है ॥

करणी के जालमें उरभि रह्यो चिदानंद,
करणी की ओट ज्ञानभाव दुति दूरी है।
आचारज कहै करणीसों व्यवहारी जीव,
करणी सदैव निहचै स्वरूप बुरी है ॥३४॥

उपजाति

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३५॥

जिसकी मिथ्यात्व रूप अशुद्ध परिणति चली गई है ऐसा मैं आगामी काल सम्बन्धी जितने भी रागादि अशुद्ध विकल्प हैं वे सब मेरे शुद्ध स्वरूप से भिन्न हैं ऐसा जानकर उनके ग्रहणरूप स्वामित्व को छोड़कर, जो शुद्ध चेतना मात्र है, समस्त कर्मों की उपाधि से रहित है ऐसे अपने स्वरूप में अपने ही ज्ञान के बल से निरन्तर अनुभव रूप से प्रवर्तन करता हूं ॥३५॥

चौपाई—मृषा मोहकी परिणति फैली । तातैं करम चेतना मैली ॥
ज्ञान होत हम समझे एती । जीव सदीव भिन्न परसेती ॥३५॥

उपजाति

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥३६॥

पूर्वोक्त प्रकार जितने भी अतीत, अनागत, वर्तमान काल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व रागादि भावकर्म हैं उनको जीव से भिन्न जानकर उनका स्वामित्वपना त्याग कर अशुद्ध परिणति के मिटने के उपरान्त उस ज्ञान स्वरूप जीव वस्तु का निरन्तर आस्वादन करता हूं। जिसका मिथ्यात्व परिणाम मूल से ही मिट गया है ऐसा मैं जो राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणति से रहित है उसी शुद्ध जीव वस्तु का आलम्बन ले रहा हूं ॥३६॥

चौपाई—मैं त्रिकाल करणीसौं न्यारा । चिद विलास पद जग उजियारा ।
राग विरोध मोह मम नाहीं । मेरो अवलम्बन मुझ माहीं ॥

छन्द

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥३७॥

मैं अपने शुद्ध स्वरूप का, ज्ञान स्वरूप मात्र आत्मा का—जो अपने स्वरूप में कभी स्खलित नहीं होता, आस्वादन करता हूं। इस शुद्ध स्वरूप के अनुभव के फलस्वरूप ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंड रूप विष का वृक्ष जो कि चैतन्य प्राण का घातक है उसके फल अर्थात् उदय की सामग्री का मेरे भोग बिना ही मूल से सत्तासहित नाश हो।

भावार्थ—कर्म के उदय से प्राप्त सुख अथवा दुःख का नाम कर्म फल चेतना है उससे आत्मा भिन्न स्वरूप है ऐसा जान कर सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव करता है ॥३७॥

सवैया—सम्यकवन्त कहे अपने गुण, मैं नित राग विरोधसों रीतो।
मैं करतूति करूं निरवंछक, मोह विषै रस लागत तीतो॥
शुद्ध स्वचेतनको अनुभौ करि, मैं जग मोह महा भट जीतो।
मोक्ष समीप भयो अब मोकूं, काल अनन्त इही विधि बीतो ॥३७॥

वसंततिलका

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्ममैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥३८॥

मुझ कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना से रहित शुद्ध ज्ञान चेतना में स्थितिरूप अनन्त काल ऐसे ही पूरा हो।

भावार्थ—कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना तो हेय है और ज्ञानचेतना उपादेय है। समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त संसार के सुखदुख के स्वामित्वपने के त्याग के कारण अन्य कर्मों के उदय से हुई अशुद्ध परिणति में जो जीव विभावरूप परिणमन कर रहा था उससे रहित होकर अनन्तज्ञान चेतनामात्र प्रवृत्ति हुई है जिसकी ऐसे मुझे वह शुद्ध चैतन्य वस्तु निरन्तर अनुभव में आती है जो शुद्ध ज्ञान स्वरूप है तथा आगामी अनंतकाल तक अपने स्वरूप से अमिट है ॥३८॥

दोहा—कहे विचक्षण मैं रहूं, सदा ज्ञान रस राचि।
शुद्धातम अनुभूतिसौं, खलित न होहुं कदाचि॥
पूर्वकरम विष तरु भए, उदै भोग फल फूल।
मैं इनको नहिं भोगता, सहज होहुं निर्मूल ॥३८॥

वसंततिलका

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥३६॥

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व भाव के द्वारा उपार्जित ज्ञानावरणादि पुद्गल पिंड रूपी चैतन्य-प्राणघातक विष वृक्ष के फल अर्थात् संसार संबंधी सुखदुःख को नहीं भोगता है ।

भावार्थ—सुखदुःख का ज्ञायक मात्र है परन्तु उनको परद्रव्य रूप जान कर उनमें रंजायमान नहीं होता । सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से होने वाले अतीन्द्रिय सुख से तृप्त है । वह निःकर्म अवस्था रूप उस निर्वाण पद को प्राप्त करता है जो अनन्त सुख विराजमान है, आगामी अनन्त काल तक सुख रूप है व सकल कर्म का विनाश होने से प्रगट होने वाले द्रव्य के सहज भूत अतीन्द्रिय अनन्त सुखमय है अर्थात् उससे एक सत्ता रूप है ॥३६॥

दोहा—जो पूरबकृत कर्मफल, रुचिसों भुंजे नाहि ।
मगन रहे आठों पहर, शुद्धातम पद माहि ॥
सो बुधकर्मदशा रहित, पावे मोक्ष तुरंत ।
भुंजे परम समाधि सुख, आगम काल अनंत ॥३६॥

स्रग्धरा

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥

आवरण सहित जो केवलज्ञान था उसको निरावरण करके जो जीव स्वयं अपनी शुद्ध ज्ञानमात्र परिणति को आनन्द सहित नचाता अतीन्द्रिय सुख सहित ज्ञान चेतनारूप परिणमन करता है वह आगामी अनन्तकाल पर्यन्त अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लेता है । उसने सर्व मोह-राग-द्वेष इत्यादि अशुद्ध परिणति का भले प्रकार विनाश किया है और यह सर्वथा सर्वकाल निश्चय

करके कि ज्ञानावरणादि कर्म और कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त सुखदुख शुद्ध स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है उनके स्वामित्वपने के त्याग को पाकर उस स्व-स्वभाव को प्राप्त किया है जो चेतना रस का निधान है।

भावार्थ– मोह-राग-द्वेष विनशता है और शुद्ध ज्ञान चेतना प्रगट होती है तब अतीन्द्रिय सुखरूप जीव परिणमन करता है। इतना जो कार्य होता है वह सब एक ही साथ होता है ॥४०॥

छप्पै जो पूरब कृत कर्म, बिरख बिषफल नहि भुंजे।
जोग जुगति कारिज करंत, ममता न प्रयुंजे ॥
राग विरोध निरोधि, संग विकलप सब छंडे।
शुद्धातम अनुभौ अभ्यास, शिव नाटक मंडे ॥
जो ज्ञानवन्त इह मग चलत, पूरण ह्वै केवल लहै।
सो परम अतीन्द्रिय सुख विषै, मगन रूप संतत रहै ॥४०॥

उपजाति

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥४१॥

अज्ञान चेतना का विनाश होने के उपरान्त उस जीव वस्तु का आगामी सर्वकाल शुद्ध ज्ञान मात्र प्रवर्तन है जो अपने में विद्यमान शक्ति के कारण सर्वकाल समस्त परद्रव्य से भिन्न है, समस्त भेद विकल्प से रहित है, अनाकुलत्व लक्षण वाले अतीन्द्रिय सुख से युक्त है और सर्वकाल प्रकाशमान है। पच वर्ण, पच रस, दो गंध, अष्ट स्पर्श, शरीर, मन, वचन सुखदुख, इत्यादि जितने भी विषय हैं उनको माला की तरह गूथने पर उस सब माला से जीव वस्तु भिन्न है। वह विषयों की माला पुद्गल द्रव्यों की पर्याय-रूप है ॥४१॥

सवैया – निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परकाशमें जगत माइयतु है।
रूप रस गंध फास पुद्गल को विलास,
तासों उदवास जाको जस गाइयतु है ॥
विग्रहसौं विरत परिग्रहसौं न्यारो सदा,
जामें जोग निग्रहको चिन्ह पाइयतु है।

सो है ज्ञान परमान चेतन निधान ताहि,
अविनासी ईस मानि सीस नाइयतु है ॥४१॥

शार्दूलविक्रीडित

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२॥

शुद्ध ज्ञान इस प्रकार प्रगट हुआ जिस प्रकार उसका प्रकाश आगामी अनन्त काल पर्यन्त जैसा अविनश्वर है वैसा ही रहेगा। यह ज्ञान ज्ञानावरण कर्ममल से रहित, स्वरूप के त्याग व परद्रव्य के ग्रहण से रहित, सकल पर द्रव्य से भिन्न सत्तारूप कर्मों के उदयजनित भावों से भिन्न व अपने स्वरूप से अमिट है। ज्ञान की ऐसी महिमा है कि वह वर्तमान, पिछले और आगामी काल के भेद से रहित स्वभावरूप अनन्त ज्ञान की ज्योति से साक्षात् प्रकाशमान है और चेतना का समूह है ॥४२॥

सवैया—जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसे निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निज थान फिर बाहिर न बहैगौ ॥
कबहूं कदाचि अपनौ स्वभाव त्यागि करि,
राग रस राचिकै न पर वस्तु गहैगौ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगामी अनन्तकाल रहैगौ ॥४२॥

छंद

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य साधारणमात्मनीह ॥४३॥

जो जीव अपने स्वरूप में स्थिर हुआ उसकी जितनी भी छोड़ने योग्य हेय वस्तु थी, सब छूट गई—कुछ छोड़ना बाकी नहीं रहा। उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण योग्य था सो समस्त ग्रहण हो गया।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप के अनुभव में सर्व कार्य की सिद्धि है। जो आत्मा के गुण विभावरूप परिणमन कर रहे थे वे स्वभाव रूप हुए और आत्मा जैसा था वैसा प्रगट हुआ ॥४३॥

सवैया—जबहीतें चेतन विभावसों उलटि आप,
समै पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है॥
तबहीतें जो जो लेने योग्य सोसो सब लीनो।
जो जो त्याग योग सो सो सब छांडि दीनो है॥
लेबे को न रही ठौर त्यागवे को नाहि और।
बाकी कहा उबर्‌यो जु कारज नवीनो है॥
संगत्यागि, अंगत्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा शुद्ध कीनो है ॥४३॥

छंद

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततोदेहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥४४॥

पूर्वोक्त प्रकार साधे गए शुद्धस्वरूप जीव के शरीर ही नहीं है अर्थात् शरीर है वह भी जीव का स्वरूप नहीं है—इसलिए द्रव्य-क्रियारूप यतिपना या गृहस्थपना जीव के सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष का कारण तो नहीं है।

भावार्थ—कोई मिथ्यदृष्टि जीव द्रव्य क्रिया को मोक्ष का कारण मानता है तो उसे समझाया है ॥४४॥

दोहा—शुद्ध ज्ञानके देह नहि, मुद्रा भेष न कोय।
तातें कारण मोक्ष को, द्रव्य लिंग नहि होय॥
द्रव्यलिंग न्यारो प्रगट कला वचन विज्ञान।
अष्टमहारिद्धि अष्टसिद्धि, एहू होइ न ज्ञान ॥४४॥

छन्द

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४५॥

जो पुरुष मोक्ष को उपादेय मानता है उसको शुद्ध स्वरूप का अनुभव सकल कर्मों के विनाश का कारण है—ऐसा समझ कर उसका निरन्तर

अनुभव करना योग्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र इन तीनों से युक्त एक सत्तारूप आत्मा ही शुद्ध जीव का स्वरूप है और वही मोक्षमार्ग है ॥४५॥

दोहा—जो दयालता भावसो, प्रगट ज्ञान को अंग ।
पै तथापि अनुभौ दशा, वरते विगत तरंग ॥
दर्शन ज्ञान चरण दशा, करै एक जो कोई ।
थिर ह्वै साधै मोक्षमग, सुधी अनुभवी सोई ॥४५॥

शार्दूलविक्रीडित

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४६॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु में एकाग्र होकर स्थिरता को प्राप्त होता है तथा शुद्ध चिद्रूप का निरन्तर अनुभव करता है और बराबर उस शुद्ध स्वरूप का ही स्मरण करता है, शुद्ध चिद्रूप में एकाग्र होकर अखंड धारा प्रवाह रूप से प्रवर्तन करता है वह समस्त कर्मों के उदय से होने वाले नाना प्रकार के अशुद्ध परिणामों को सर्वथा छोड़ता हुआ, सकल कर्म के विनाश से प्रगट हुए शुद्ध चैतन्यमात्र का अति ही थोड़े समय में सर्वथा आस्वाद करता है अर्थात् निर्वाण पद को प्राप्त होता है। उस शुद्ध चिद्रूप का दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सर्वस्व है और वह ज्ञान के प्रत्यक्ष है; उसके शुद्ध स्वरूप में परिणमन पर सकल कर्मों का क्षय हुआ है और वह समस्त विकल्पों से रहित है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखो तो जैसा है वैसा ही है, न कुछ कम हुआ है और न कुछ अधिक हुआ है ॥४६॥

दोहा—गुण पर्याय में दृष्टि न दीजै, निर्विकल्प अनुभव रस पीजै ।
आप समाइ आपमें लीजै, तनुपो मेटि अपनपो कीजै ॥
तज विभाव हूजे मगन, शुद्धातम पद माँहि ।
एक मोक्ष मारग यहै, और दूसरो नाँहि ॥४६॥

शार्दूलविक्रीडित

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।

नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥४७॥

मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि द्रव्यव्रत धारण करता है और बहुत से शास्त्र पढ़ता है परन्तु फिर भी उस सकल कर्मों से विमुक्त परमात्मा को नहीं पाता जो हर समय प्रकाशमान है, जैसा था वैसा ही अखण्ड निर्विकल्प सत्तारूप है, जिसकी तीनों लोकों में कोई उपमा नहीं है जो चेतना स्वरूप के प्रकाश का पुंज है और कर्ममल से रहित है।

भावार्थ - मिथ्यादृष्टि जीव निर्वाण पद को नहीं पाता है। मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्य-क्रिया मात्र जो आचरता है उसमें ऐसी प्रतीति करता है कि मैं यति हूँ और मेरी क्रिया मोक्षमार्ग है। शरीर सम्बन्धी बाह्यक्रिया मात्र का अवलम्बन लेने वाला ऐसा जीव, शुद्ध स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव से अनादि काल से भ्रष्ट है। द्रव्य क्रिया करता हुआ वह अपने आप को ऐसा मानता है कि जैसे वह मोक्ष मार्ग में आ बैठा है। इसी अभिप्राय से शुद्ध स्वरूप का अनुभव छोड़कर वह क्रिया करता है।

भावार्थ - शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है, ऐसी प्रतीति वह नहीं करता है ॥४७॥

सवैया—केई मिथ्यादृष्टि जीव धरं जिन मुद्रा भेष,
क्रिया में मगन रहें कहें हम यती हैं।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भावसों विमुख मूढ़मती हैं॥
आगम सम्भालें दोष टालें, व्यवहार भालें,
पालें व्रत यद्यपि तथापि अविरती हैं।
आपको कहावें मोक्षमारग के अधिकारी,
मोक्ष सों सदैव रुष्ट दुष्ट दुरमती हैं ॥४७॥

आर्या

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥४८॥

कोई ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव है जिनको यह झूठी प्रतीति हुई है कि द्रव्य क्रिया मात्र ही मोक्षमार्ग है और ऐसे मूढ़पने के वशीभूत वे 'शुद्धज्ञान

मोक्षमार्ग है' ऐसा अनुभव नहीं करते हैं। जैसे वर्तमान कर्मभूमि में, कितने ही मूर्ख लोग यद्यपि धान्य का जैसा है वैसा ही है परन्तु वे धान के ऊपर के छिलके मात्र का ज्ञान करते, उसी से अपनी बुद्धि को विमुख करके, तुष (छिलके) को अपना मानते हैं और चावल के मर्म को नहीं पाते हैं वैसे ही मिथ्याज्ञान से विकल बुद्धि वाले कितने ही जन क्रियामात्र को मोक्षमार्ग जानते हैं और आत्मा के अनुभव से शून्य हैं॥४८॥

चौपाई—जैसे मुगध धान पहिचानै। तुष तंदुल को भेद न जानै॥
तैसे मूढमती व्यवहारी। लखै न बन्ध मोक्ष विधि न्यारी॥

दोहा—जे व्यवहारी मूढ नर, परजै बुद्धी जीव।
तिन को बाहिज क्रिया हि, है अवलंब सदीव॥

अनुष्टुप

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः॥४९॥

क्रियारूप यतिपना (मुनिपना) धारण करके कोई जीव ऐसा मानता है कि मैं मुनि हूं और मेरा मुनिपना मोक्ष का मार्ग है ऐसे अभिप्राय से अन्धा जीव परमार्थ दृष्टि से शून्य है और उसको शुद्ध जीव वस्तु प्राप्ति-गोचर नहीं है।

भावार्थ—उसको मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान के विचार से तो क्रियारूप मुनिपना जीव से भिन्न है, पुद्गल कर्म संबंधी है और इसलिए द्रव्यलिंग हेय है एवं अनुभवगोचर शुद्ध ज्ञान मात्र वस्तु ही एकमात्र जीव का सर्वस्व है इसलिए उपादेय है और वही मोक्ष का मार्ग है।

भावार्थ—शुद्ध जीव के स्वरूप का अनुभव अवश्य करना योग्य है॥४९॥

कवित्त—जिन्हके देह बुद्धि घट अन्तर, मुनि मुद्रा धरि क्रिया प्रमानहि।
ते हिय अन्ध बंध के करता, परम तत्त्व को भेद न जानहि॥
जिन्हके हिए सुमति की कनिका, बाहिज क्रिया भेष परमानहि।
ते समकिती मोख मारग मुख, करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि॥

मालिनी

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्नखलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।५०।।

अब इतना ही कहना है कि शुद्ध जीव का अनुभव ही अकेला मोक्ष का कारण है अतः नाना प्रकार के अभिप्रायों को मेटकर उसी एक को नित्य अनुभवो। शुद्ध जीव स्वरूप का अनुभव जिस प्रकार सर्वथा मोक्ष का मार्ग है उसी प्रकार कोई भी द्रव्य क्रिया या सिद्धान्त का पढ़ना-लिखना इत्यादि अन्य समस्त क्रिया सर्वथा मोक्ष का मार्ग नहीं है। केवल ज्ञान का प्रगटपना चेतना के प्रवाह में सम्पूर्ण है और यही मोक्ष मार्ग है। इससे ज्यादा कोई मोक्षमार्ग कहे तो वह बहिरात्मा है उसे वर्जित करते हैं कि बहुत बोलने से बस करो, बस करो। इस प्रकार का बहुत बोलना झूठ से झूठ चित्त कल्लोल माला अर्थात् मन के उन विकल्पों को उठाना है जो शक्ति के भेद से अनन्त है ।।५०।।

सवैया आचारज कहैं जिन वचन को विसतार,
अगम अपार है कहेंगे हम कितनो।
बहुत बोलबे सों न मकसूद चुप्प भलो,
बोलिए सुवचन प्रयोजन है जितनो ।।
नानारूप जलप सों नाना विकलप उठे,
तातें जेतो कारिज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमातमा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
यहै मोक्ष पंथ परमारथ है इतनो ।।

दोहा—शुद्धातम अनुभौ क्रिया, शुद्धज्ञान दृग दौर।
मुक्ति पंथ साधन यहै, वागजाल सब और ।।५०।।

छन्द

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ।।५१।।

इस प्रकार शुद्ध ज्ञान प्रकाश पूर्ण हुआ।

भावार्थ— सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार जो आरम्भ किया था सो पूरा हुआ। शुद्ध ज्ञान जो ज्ञानमात्र का समूह आत्मद्रव्य है उसका प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना है, वह निर्विकल्प है, समस्त ज्ञेय वस्तु को जानना है और शाश्वत है ।।५१।।

दोहा—अगनवपु आनंदमय ज्ञान चेतना धाम ।
निर्विकल्प शाश्वत सुथिर, कीजे अनुभौ ताम ॥५१॥

छन्द

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥५२॥

प्रत्यक्ष है जो शुद्ध जीव का स्वरूप वह ज्ञानमात्र है, शुद्ध चेतनामात्र अखण्ड-अबाधित है, निराकुल है, अपने स्वरूप से अमिट है, ज्ञान गुण से स्वानुभव गोचर है, कर्मों से भिन्न होने पर कोई भी बाधा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है — पूर्ण नाटक समयसार होने पर ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।

भावार्थ—शुद्ध ज्ञानमात्र जीव द्रव्य है ऐसा कथन करने पर ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ॥५२॥

दोहा—अचल अखंडित ज्ञानमय, पूरण वीत ममत्व ।
ज्ञानगम्य बाधा रहित, सो है आतम तत्त्व ।
सर्व विशुद्धि द्वार यह, कह्यो प्रगट शिवपंथ ।
कुन्दकुन्द मुनिराज कृत, पूरण भयो सु ग्रन्थ ॥५२॥

॥ इति दशमा अध्याय ॥

एकादशम अध्याय

स्याद्वाद अधिकार

अनुष्टुप्

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥१॥

जीव द्रव्य ज्ञान मात्र है ऐसा कहते हुए समयसार नाम शास्त्र समाप्त हुआ। अब इसके अतिरिक्त कुछ थोड़ा सा अर्थ और भी कहते हैं।

भावार्थ—जिस गाथा सूत्र के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हैं उनके द्वारा कही गई गाथा सूत्र का अर्थ तो सम्पूर्ण हो गया परन्तु उसके जो अमृतचन्द्रसूरि टीकाकार हैं वह टीका पूर्ण करने के उपरान्त कुछ और भी कहते हैं। क्या कहते हैं ? जीव द्रव्य का ज्ञानमात्र स्वरूप जैसा है वैसा कहते हैं, मोक्ष का कारण क्या है वह कहते हैं और सकल कर्मों का विनाश होने पर जो वस्तु निष्पन्न होती है वैसा कहते हैं। कहने की गरज हो क्या है ? ज्ञान मात्र जीव द्रव्य में एक सत्ता होते हुए भी अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, इत्यादि अनेकान्तपना किस प्रकार घटित होता है इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के प्रयोजन स्वरूप कहते हैं। भावार्थ—कोई आशंका करे कि जैन दर्शन का तो स्याद्वाद मूल है परन्तु यहां तो कहा है कि ज्ञानमात्र ही जीव द्रव्य है, तो ऐसा कहने में तो एकान्तपना हुआ, स्याद्वाद तो इसमें प्रगट नहीं हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञानमात्र ही जीव द्रव्य है ऐसा कहने में ही अनेकान्त घटित होता है। कैसे घटित होता है ? यहां से आगे अब यही कहते हैं, सावधान होकर सुनो ॥१॥

दोहा—कुन्दकुन्द नाटक विषै, कह्यो द्रव्य अधिकार ।
स्याद्वाद नै साधि मैं, कहूं अवस्था द्वार ॥

कहूं मुक्तिपद की कथा, कहूं मुक्ति को पंथ।
जैसे घृत कारिज जहां, तहां कारण दधि मंथ॥
एक रूप कोऊ कहे, कोऊ अगनित अंग।
छिनभंगुर कोऊ कहे, कोऊ कहे अभंग॥
नय अनन्त इहविधि कही, मिले न काहू कोय।
जो सब नय साधन करे, स्याद्वाद है सोय॥
स्याद्वाद अधिकार अब, कहूं जैन को मूल।
जाके जाने जगत जन, लहे जगत जल कूल॥१॥

शार्दूलविक्रीडित

बाह्यार्थः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्विह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥२॥

जीव के ज्ञानमात्र स्वरूप के सम्बन्ध में भी चार प्रश्न उठते हैं— (१) ज्ञान ज्ञेय पर निर्भर है या अपनी सामर्थ्य में स्थित है, (२) ज्ञान एक है या अनेक है (३) ज्ञान अस्तिरूप है या नास्तिरूप है और (४) ज्ञान नित्य है या अनित्य है। इनके उत्तर में कहना होगा कि जितनी वस्तु हैं वे सब द्रव्यरूप हैं व पर्यायरूप हैं। इसलिए ज्ञान भी द्रव्यरूप है और पर्याय-रूप है। द्रव्य रूप का अर्थ है निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु। पर्यायरूप अवस्था में स्वयं को अथवा पर को जानना हुआ ज्ञेय की आकृति के प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान परिणमन करना है।

भावार्थ—ज्ञेय को जानने रूप परिणति ज्ञान की पर्याय है। इसलिए ज्ञान को जब पर्याय रूप से कहते हैं तो ज्ञान ज्ञेय पर निर्भर है परन्तु जब वस्तु मात्र का कथन करते हैं तो वह अपनी सत्ता में है अपने सहारे का है। पहले प्रश्न का समाधान तो यह हुआ। दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि पर्यायमात्र का कथन करते हुए ज्ञान अनेक है, पर जब वस्तु मात्र का विचार करते हैं तो एक है। तीसरे प्रश्न का उत्तर है कि ज्ञान की पर्याय का कथन करते हैं तो ज्ञान नास्तिरूप है और वस्तु स्वरूप का विचार करें तो अस्तिरूप है। इसी प्रकार चौथे प्रश्न का उत्तर है कि पर्याय मात्र के विचार से ज्ञान

अनित्य है और वस्तु मात्र के विचार से नित्य है। ऐसे प्रश्नों का इस प्रकार समाधान करना—यही स्याद्वाद है। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है और ऐसा ही साधना से वस्तु मात्र सधती है। कोई मिथ्यादृष्टि जीव यह नहीं मानते कि जो वस्तु वस्तुरूप है वही पर्यायरूप है। वे या तो सर्वथा वस्तुरूप ही मानते हैं या सर्वथा पर्यायमात्र मानते हैं। ऐसे जीवों को एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि कहा है। कारण कि वस्तु मात्र न माने, पर्याय मात्र माने तो पर्याय भी नहीं सधती। इसके अनेक प्रमाण हैं, अवसर पाकर कहूंगा। इसी प्रकार पर्यायरूप न मानने से वस्तु मात्र भी नहीं सधती—इसका दृष्टांत के लिए भी अनेक युक्तियां हैं। अवसर मिलेगा तो कहेंगे। कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान को पर्यायरूप मानते हैं वस्तुरूप नहीं मानते हैं और ऐसा मानते हुए ज्ञान को ज्ञेय पर निर्भर मानते हैं। ऐसे एकान्तपने से ज्ञान नहीं सधता। ज्ञान की अपनी सत्ता है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जो ज्ञान पर ज्ञेय की सामर्थ्य मानता है वह शुद्ध जीव की सत्ता को या वस्तु के अस्तित्व को नहीं पा सकता। भावार्थ—एकान्तवादी के कथन में वस्तु का अभाव सधता है, वस्तु का अस्तित्व नहीं सधता है। कारण कि मिथ्यादृष्टि जीव मानता है कि ज्ञान को ज्ञेय वस्तु ने सब तरह से आत्मसात् कर रक्खा है। भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव मानता है कि ज्ञान कोई वस्तु नहीं है वह ज्ञेय से है सो भी उसी क्षण उपजता है और उसी क्षण विनश जाता है। जैसे घट का ज्ञान घट से है। प्रतीति होती है जहां-जहां घट है, वहां घटज्ञान है। जब घट नहीं था तो घट ज्ञान भी नहीं था। जब घट नहीं होगा तो घट ज्ञान भी नहीं होगा। कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान वस्तु को न मानते हुए ज्ञान को पर्यायमात्र मानते हैं। ऐसे एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव मानते हैं कि ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान सजा हुई है। ज्ञान नाम से फिर विनाश को प्राप्त हो जाता है। वे मूल से ही लेकर ज्ञेय वस्तु के निमित्त का एकान्त करके कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न हुआ और ज्ञेय से विनाश को प्राप्त हुआ। भावार्थ—जैसे दीवार पर चित्र बना। जब दीवार न थी चित्र न था। जब तक दीवार है तब तक चित्र है जब दीवार न होगी तब चित्र न होगा। इसमें ऐसी प्रतीति होती है कि चित्र का सर्वस्व (अस्तित्व) दीवार पर निर्भर है। जैसे जब तक घट है तब तक घट ज्ञान है। जब घट नहीं था तब घटज्ञान भी नहीं था। जब घट नहीं होगा तब घटज्ञान भी नहीं होगा। इससे यह प्रतीति होती है कि ज्ञान का सर्वस्व (अस्तित्व) ज्ञेय से है कई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानते हैं इसलिए अज्ञानी के मत में ज्ञान वस्तु नाम की कोई चीज नहीं

पाई जाती। स्याद्वादी के मत में ज्ञान वस्तु पाई जाती है। वस्तु स्थिति जैसी एकान्तवादी कहता है वैसी नहीं है अपितु जैसी स्याद्वादी कहता है वैसी है। स्याद्वादी जीव एक ही सत्ता को द्रव्य तथा पर्यायरूप मानता है इसलिए सम्यग्दृष्टि के मत में पूर्ण ज्ञान वस्तु जैसी है वैसी है, जैसी ज्ञेय से होती कही, विनशती कही, वैसी नहीं है। एकान्तवादी के मत में जो ज्ञान मूल से ही मिट गया था वह ज्ञेय से भिन्न अपने आप में स्वयं-सिद्ध ज्ञान स्याद्वादी के मन में वस्तु रूप प्रगट हुआ। आदिकाल से लेकर जो ज्ञान का स्वयंसिद्ध, अमिट, सहज, स्वभाव है उसको न्याय से विचार करके तथा अनुभव करके उसकी सत्ता प्रगट होती है। जो वस्तु है वह वस्तु अपने स्वभाव से ही वस्तु है— ऐसा अनुभव करने से अनुभव भी उपजता है और युक्ति भी प्रगट होती है। अनुभव निर्विकल्प है। युक्ति ऐसे है कि द्रव्यदृष्टि से विचार करें तो ज्ञान वस्तु अपने स्वरूप से है और पर्यायदृष्टि से विचार करें तो ज्ञेय से है। जैसे ज्ञान वस्तु द्रव्यरूप से तो ज्ञानमात्र है परन्तु पर्यायरूप से घट-मात्र है। इस तरह पर्यायरूप से देखते हैं तो जो घटज्ञान कहा वह घट के होते हुए ही है, घट के बिना नहीं है। द्रव्यदृष्टि से जब अनुभव करते हैं तो उसे घटज्ञान रूप नहीं देखते। ज्ञान को ज्ञानमात्र देखते हैं जो घट से भिन्न अपने स्वरूप मात्र से स्वयं-सिद्ध वस्तु है, इस प्रकार अनेकान्त की साधना से वस्तुस्वरूप सधता है। एकान्त दृष्टि से जो कहा कि घट के कारण घट ज्ञान है ज्ञान वस्तु कोई चीज नहीं है तो फिर ऐसा होना चाहिए कि घट के पास बैठे पुरुष को जैसे घट ज्ञान होता है वैसे ही घट के पास जो वस्तु रक्खी हो उसी को घट ज्ञान हो जाना चाहिए। ऐसे में स्तम्भ के पास घट रक्खा हो तो स्तम्भ को घट ज्ञान हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं दिखाई देता। इससे यह भाव प्रतीत होता है कि जिसमें ज्ञान शक्ति मौजूद है उसको घट के पास बैठने से, घट को देखने-विचारने से, घट ज्ञान रूप ज्ञान की पर्याय का परिणमन होता है। इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु का साधक है, एकान्तवाद वस्तु का नाश करता है ॥२॥

सवैया—शिष्य कहे स्वामी जीव स्वाधीन कि पराधीन,
जीव एक है किधौं अनेक मानि लीजिए।
जीव है सदीव किधौं नांहि जगत मांहि,
जीव अविनश्वर कि नश्वर कहीजिए।

सतगुरु कहे जीव है सदीव निजाधीन,
एक अविनश्वर दरब दृष्टि दीजिए।
जीव पराधीन क्षणभंगुर अनेक रूप,
नांहीं जहां तहां परजै प्रमाण कीजिए।।

सवैया—द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तु ही में,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
पर के चतुष्क वस्तु नास्ति नियत अंग,
ताको भेद द्रव्य परजाय मध्य जानिए।
दरब तो वस्तु क्षेत्र सत्ता भूमि काल चाल,
स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।
याही भांति पर विकलप बुद्धि कलपना,
व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये।।

दोहा—है नांहीं नांहीं सु है, है है नांहीं नांहि।
यह सरबंगी नय धनी, सब माने सब मांहि।।

सवैया—ज्ञान को कारण ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
ज्ञेय सों अनेक ज्ञान मेल ज्ञेय छांही है।
जों लों ज्ञेय तों लों ज्ञान सर्व दर्व में विज्ञान,
ज्ञेय क्षेत्र मान ज्ञान जीव वस्तु नांहीं है।
देह नसे जीव नसे देह उपजत लसे,
आतमा अचेतन है सत्ता अंश मांही है।
जीव क्षणभंगुर अज्ञायक स्वरूपी ज्ञान,
ऐसो ऐसो एकान्त अवस्था मूढ़ पांही है।।

कोउ मूढ़ कहे जैसे प्रथम संवारि भीति,
पीछे ताके ऊपर सुचित्र आछयो लेखिए।
तैसे मूल कारण प्रगट घट पट जैसो,
तैसो तहां ज्ञानरूप कारिज विसेखिए।
ज्ञानी कहे जैसी वस्तु तैसा ही स्वभाव ताको,
ताते ज्ञान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए।
कारण कारिज दोउ एक ही में निश्चय पै,
तेरो मत सांचो व्यवहार दृष्टि देखिए।।२।।

शार्दूलविक्रीड़ित

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥३॥

कोई मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो ज्ञान को द्रव्य रूप मानता है, पर्याय रूप नहीं मानता है। तब जो जीव द्रव्य को ज्ञानवस्तु रूप मानता है वैसे ज्ञेय जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य हैं उनको भी ज्ञेय वस्तु नहीं मानता है, ज्ञान वस्तु ही मानता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति समाधान ऐसा है कि ज्ञान ज्ञेय को जानता है ऐसा ज्ञान का स्वभाव है तथापि ज्ञेय वस्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव अत्यन्त दृढ़ प्रतीति करता है कि त्रैलोक्य में जो कुछ भी है वह ज्ञानवस्तु है, उसमें कुछ हेय है कुछ उपादेय है ऐसा भेद नहीं करता। सारे त्रैलोक्य को ही उपादेय मानता है। और ऐसा प्रतीति होने से निःशंक होकर पशु के समान प्रवर्तन करता है। 'मैं ही विश्व हूँ' ऐसा जान कर विश्वरूप होकर प्रवर्तन करता है। भावार्थ- ज्ञानवस्तु पर्याय से ज्ञेयाकार होती है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय के भेद को नहीं मानता है। उसको यह उत्तर है कि ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप नहीं है। जैसे एकान्तवादी कहता है वैसे ज्ञान का वस्तुपना सिद्ध नहीं होता जैसा स्याद्वादी कहता है वैसा वस्तुपना ज्ञान का सिद्ध होता है। एकान्तवादी मानता है कि सब कुछ ज्ञान वस्तु ही है, पर ऐसा मानने से तो लक्ष्य लक्षण का अभाव होता है। और लक्ष्य लक्षण का अभाव होने से वस्तु की सत्ता नहीं सिद्ध होती। स्याद्वादी कहता है कि ज्ञानवस्तु का लक्षण ही समस्त ज्ञेय का जानपना है, ऐसा मानने से ज्ञान का स्वभाव सिद्ध होता है। स्वभाव सिद्ध होने से वस्तु सिद्ध होती है—इसलिए कहा है कि स्याद्वाददर्शी वस्तु को द्रव्यपर्यायरूप मानता है इसलिए अनेकान्तवादी जीव ज्ञान वस्तु को सिद्ध करने में समर्थ है। स्याद्वादी मानता है कि ज्ञानवस्तु समस्त ज्ञेय से निराली है और समस्त ज्ञेय से भिन्नरूप अपने द्रव्य गुण पर्याय से जैसी है वैसी ही अनादि काल से स्वयं सिद्ध निष्पन्न है। ज्ञान वस्तु को ऐसा क्यों माना? क्योंकि जो भी वस्तु है वह पर वस्तु का अंश भी वस्तुरूप नहीं है। भावार्थ—जैसे ज्ञानवस्तु ज्ञेयरूप से नहीं है, ज्ञानरूप से है, वैसे ही

ज्ञेय वस्तु भी ज्ञान वस्तु में नहीं है ज्ञेय रूप में है। इससे यह अर्थ निकला कि पर्याय के द्वार से (दृष्टि से) अस्तिरूप है। ऐसा भेद स्याद्वादी अनुभव करता है इसलिए स्याद्वाद वस्तु के स्वरूप का साधक है और एकान्तपना वस्तु के स्वभाव का घातक है ॥३॥

सवैया — कोउ मिथ्यामति लोकालोक व्यापि ज्ञान मानि,
समझै त्रिलोक पिण्ड आतम दरब है।
याही तै स्वच्छन्द भयो डोलै मुखहू न बोलै,
कहै या जगत में हमारो ही परब है॥
तासौं ज्ञाता कहै जीव जगतसौं भिन्न है पै,
जगको विकासी तोहि याही तै गरब है।
जो वस्तु सो वस्तु पर रूपसौं निराली सदा,
निहचै प्रमाण स्याद्वाद में सरब है ॥३॥

शार्दूलविक्रीडित

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसद्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥४॥

कोई एकान्तवादी जीव पर्याय मात्र को वस्तु मानता है, वस्तु को नहीं मानता है। इसलिए ज्ञानवस्तु अनेक ज्ञेय को जानती है और उनको जानती हुई ज्ञेयाकार परिणमन करती है — ऐसा जान कर वह मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान को अनेक मानता है, एक नहीं मानता। एक ज्ञान को न मानकर अनेक ज्ञान को मानने से ज्ञान का अनेकपना सिद्ध नहीं होता। इसलिए ज्ञान को एक मान कर अनेक मानना वस्तु का साधक है। जितनी भी ज्ञेय वस्तु है उनकी आकृतिरूप ज्ञान का परिणाम है। यह उस वस्तु का सहज स्वभाव है किसी से वर्जित करने की या मेटने की सामर्थ्य नहीं है। तो भी मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव वस्तु को नहीं साध सकता। वह जैसा मानता है वह झूठा है। क्योंकि (ज्ञान) अनंत है, अनन्त प्रकार है—प्रगट रूप से तो जैसा है वैसा ही है। छः द्रव्य के समूह के प्रतिबिम्ब रूप उसकी पर्याय ने परिणमन किया है लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव ने इतनी मात्र ज्ञान की श्रद्धा करके अपनी

वस्तु को सिद्ध करने की सामर्थ्य को गला दिया है, नष्ट कर दिया है।

भावार्थ— ज्ञान का स्वभाव है कि वह समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की आकृति रूप हो जाता है। वस्तु का मात्र इतना ही जानने वाला कोई एकान्तवादी ज्ञान वस्तु को अनेक मान लेता है। ऐसे एकान्तवादी के प्रति स्याद्वादी ज्ञान के एकत्व को सिद्ध करता है। वह एक सत्ता को द्रव्य और पर्याय रूप मानता है ऐसा स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानवस्तु यद्यपि पर्याय से अनेक है तथापि द्रव्यरूप से उसको एकरूप अनुभव करता है। ज्ञान अनेक है ऐसे एकान्त पक्ष को नहीं मानता। ज्ञान एक वस्तु है इस अभिप्राय से उसका सदाकाल उदय मानता है तथा इसे अखण्डित मानता है। इस प्रकार से ज्ञान वस्तु अनुभव गोचर है ॥८॥

सवैया—कोउ पशु ज्ञान की अनंत विचित्रताई देखि,
ज्ञेय को आकार नानारूप विसतर्यो है।
ताहिको विचारि कहै ज्ञान की अनेक सत्ता,
गहिके एकांत पक्ष लोकनि सों लर्यो है॥
ताको भ्रम भंजिवेको ज्ञानवंत कहै ज्ञान,
अगम अगाध निराबाध रस भर्यो है।
ज्ञायक स्वभाव परजायसों अनेक भयो,
यद्यपि, तथापि एकतासों नहीं टर्यो है ॥८॥

शार्दूलविक्रीडित

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन्पश्यत्यनेकान्तवित् ॥१५॥

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव ऐसा है कि वस्तु को द्रव्यरूप मात्र मानता है पर्यायरूप नहीं मानता है। वह मानता है कि ज्ञान निर्विकल्प वस्तु मात्र है, ज्ञान की पर्याय जो ज्ञेयाकार परिणति रूप है उसे नहीं मानता है इसलिए ज्ञेयवस्तु को जानते हुए ज्ञान को अशुद्ध मानता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी के लिए स्याद्वादी ज्ञान का स्वभाव द्रव्यरूप से एक तथा

पर्यायरूप से अनेक है ऐसा सिद्ध करता है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानमात्र जीव वस्तु को न साध सकता है और न अनुभव में ला सकता है यद्यपि वह प्रकाश रूप से प्रगट है। वह ऐसा मानता है कि जब तक ज्ञेय का आकार ज्ञान में है, ज्ञान ज्ञेय को जानता है तब तक ज्ञान ज्ञेय के आकार से अशुद्ध हो रहा है और इसलिए मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी उस अशुद्धपने के प्रक्षालन का अभिप्राय करता है।

भावार्थ—ज्ञान ज्ञेय को जानता है यह उसका स्वभाव न मान कर वह उसमें अशुद्धपना मानता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि एकांतवादी का अभिप्राय ऐसा है कि ज्ञान का परिणाम जब समस्त ज्ञेय के जानपने से रहित होकर निर्विकल्परूप हो जाता है तब ज्ञान शुद्ध है। उसके प्रति स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान के एक व अनेक रूप स्वभाव को सिद्ध करते है। वही सम्यग्दृष्टि उसको साध सकता है—वही उसका अनुभव कर सकता है। स्याद्वादी अनुभव करता है कि ज्ञान सहज ही शुद्ध स्वरूप है, ज्ञान अनेक ज्ञेयकार रूप होने से पर्याय में अनेक है तथापि द्रव्यरूप से एक है। यद्यपि द्रव्यरूप से एक है तो भी अनेक ज्ञेयाकार रूप परिणमन करने से अनेकपने को प्राप्त होता है—ऐसे स्वरूप को अनेकांतवादी साध सकता है, अपने अनुभव में ला सकता है। इस प्रकार वस्तु को द्रव्यरूप और पर्यायरूप अनुभव करने से वह स्याद्वादी नाम पाता है ॥५॥

सवैया—कोउ कुधी कहे ज्ञानमांहि ज्ञेय को आकार,
प्रतिभास रह्यो है कलंक ताहि धोइए।
जब ध्यान जलसों पखारिके धवल कीजे,
तब निराकार शुद्ध ज्ञानमई होइए॥
तासों स्याद्वादी कहे ज्ञान को स्वभाव यहै,
ज्ञेय को आकार वस्तु मांहि कहां खोइए।
जैसे नानारूप प्रतिबिम्ब की झलक दोखे,
यद्यपि तथापि आरसी विमल जोइए ॥५॥

शार्दूलविक्रीडित

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।

स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥६॥

कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो पर्याय मात्र को ही वस्तुरूप मान लेता है। इसलिए ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान जो ज्ञेयाकार परिणमा है उसकी उस पर्याय का ज्ञेय के अस्तित्व से अस्तित्व मानता है, ज्ञेय से भिन्न निर्विकल्प ज्ञान मात्र वस्तु को नहीं मानता। इसमें यह भाव पाया जाता है कि परद्रव्य के अस्तित्व में ज्ञान का अस्तित्व है, ज्ञान के अपने अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। इसका यह उत्तर है कि ज्ञानवस्तु का अपने अस्तित्व में अस्तित्वपना है। इसके चार भेद हैं ज्ञानमात्र जीव वस्तु स्वद्रव्य के विचार से अस्ति, स्वकाल से अस्ति, स्वक्षेत्रपने में अस्ति और स्व-भाव के विचार से अस्ति है। इसी प्रकार ज्ञानमात्र वस्तु परद्रव्य के विचार से नास्ति, परक्षेत्र से नास्ति, परकाल से नास्ति तथा पर-भाव के विचार से नास्ति है इनके लक्षण इस प्रकार हैं: स्व-द्रव्य–निर्विकल्प मात्र वस्तु, स्वक्षेत्र–आधार मात्र वस्तु का प्रदेश, स्वकाल— उसकी मूल अवस्था, स्व-भाव— वस्तु की मूल सहज शक्ति। परद्रव्य—सविकल्प भेद कल्पना, पर-क्षेत्र— जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तु मात्र रूप से कहा था वही प्रदेश सविकल्प भेद कल्पना के द्वारा पर प्रदेश बुद्धिगोचर रूप से कहा जाता है, पर-काल–द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था, उसकी अवस्थान्तर भेद रूप कल्पना करके परकाल कहा है, पर-भाव—द्रव्य की सहज शक्ति पर्यायरूप के अनेक अंशों द्वारा भेद कल्पना। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव, जीव के स्वभाव को नहीं साध सकता क्योंकि वह सर्व प्रकार तत्त्वज्ञान से शून्य है, निर्विकल्प वस्तु मात्र का उसे अवलोकन नहीं होता, असहाय रूप से जैसी लिखी है, वैसी अमिट ज्ञेयकार जो ज्ञान की पर्याय है उसी को (वस्तु) मानता है। ज्ञान के अस्तित्वपने में वर्णित एकांतवादी मिथ्यादृष्टि जीव जैसा कहता है वैसा नहीं है। स्याद्वादी सम्यक्दृष्टि जीव निर्विकल्प ज्ञान शक्ति मात्र वस्तु के अस्तित्व से, ज्ञानमात्र जीव वस्तु के अनुभव के द्वारा निर्मल भेद ज्ञान के प्रताप से, पूर्ण होता हुआ ज्ञानमात्र जीव वस्तु को सिद्ध कर सकता है, अनुभव कर सकता है। ऐसा बोध उसको तत्काल प्रगट होता है ॥६॥

सवैया—कोउ पशु कहै ज्ञेयकार ज्ञान परिणाम,
जौलौं विद्यमान तौलौं ज्ञान परगट है।

ज्ञेय के विनाश होत ज्ञान को विनाश होय,
ऐसी वाके हिरदै मिथ्यात की प्रगट है ।।
तासूं समकितवंत कहे अनुभौ कहानि,
पर्याय प्रमाण ज्ञान नानाकार नट है ।
निरविकलप अविनश्वर दरब रूप,
ज्ञान ज्ञेय वस्तुसों अव्यापक अघट है ।।६।।

शार्दूलविक्रीडित

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।।७।।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यरूप मानता है पर्यायरूप नहीं मानता है इसलिए समस्त ज्ञेय वस्तु को ज्ञान में ही गर्भित मानता है । वह ऐसा कहता है—जब उष्ण को जानता है तब ज्ञान उष्ण है, जब शीतल को जानता है तब ज्ञान शीतल है । उसको सम्बोधते हैं कि ज्ञान ज्ञेय का ज्ञाता मात्र तो है परन्तु ज्ञेय का गुण ज्ञेय में ही है, ज्ञान में ज्ञेय का गुण नहीं है । मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव को भ्रान्ति हुई है कि ज्ञेय को जानते समय जो ज्ञान की पर्याय ने ज्ञेय की आकृतिरूप परिणमन किया है, वही निर्विकल्प सत्ता मात्र ज्ञान वस्तु है । ऐसा एकांतवादी मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप को साधने में असमर्थ होता हुआ अत्यंत खेद-खिन्न होता है । भावार्थ—जैसे उष्ण को जानते समय उष्ण की आकृति ज्ञान का परिणमन होता है देख कर मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का ही उष्ण स्वभाव मानता है । अनादिकाल के मिथ्या संस्कारों के कारण मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव से भ्रष्ट हुआ है । जितने भी समस्त द्रव्य हैं उन सब द्रव्यों के स्वभाव जीव (द्रव्य) में गर्भित हैं, मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसी प्रतीति होती है । परन्तु एकांतवादी जैसा मानता है वैसा नहीं है, बल्कि स्याद्वादी जैसा मानता है वैसा है । अनेकान्तवादी जीव ज्ञानमात्र जीव वस्तु को साध सकता है, उसका अनुभव कर सकता है । सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा है कि जो समस्त ज्ञेय का स्वरूप ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ है उसका ज्ञानवस्तु से भिन्नपना अनुभव करता है और इस प्रकार (द्रव्य विचार से) उसमें ज्ञान को नास्ति रूप देखता है ।

भावार्थ—समस्त ज्ञेय ज्ञान में उद्योत है परन्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हुआ है। स्याद्वादी जीव मिथ्यादृष्टि से रहित व रागादि अशुद्ध परिणति से रहित अनुभव ज्ञान के प्रताप से युक्त है ॥७॥

सवैया—कोउ मन्द कहे धर्म अधर्म आकाश काल,
पुद्गल जीव सब मेरो रूप जग में।
जाने न मरम निज माने आप पर वस्तु,
बांधे दृढ़ करम धरम खोवे जग में॥
समकिती जीव शुद्ध अनुभौ अभ्यासे तातें,
परको ममत्व त्याग करे पग-पग में।
अपने स्वभाव में मगन रहे आठों जाम,
धारावाही पथिक कहावे मोक्ष मग में॥७॥

शार्दूलविक्रीडित

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥८॥

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को पर्यायरूप मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है। जितना भी समस्त वस्तु का आधारभूत प्रदेश पुंज है उसको ज्ञान जानता है और जानता हुआ उसकी आकृतिरूप परिणमन करता है उसी का नाम तो परक्षेत्र है उस परक्षेत्र को मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का क्षेत्र मानता है। वह यह नहीं मानता कि उस ज्ञेय से सर्वथा भिन्न चैतन्य प्रदेश मात्र ज्ञान का क्षेत्र है। ऐसे जीव का समाधान करते हैं कि ज्ञान-वस्तु परक्षेत्र को जानती है परन्तु अपने क्षेत्ररूप है। पर का क्षेत्र ज्ञान का क्षेत्र नहीं है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव 'ज्ञानमात्र जीववस्तु है' ऐसा नहीं साध सकता है। वह अनादिकाल से जो अपने चैतन्य प्रदेश में अन्य समस्त द्रव्यों का प्रदेश पुंज है उनसे जो ज्ञान का उन आकृतिरूप परिणमन हुआ है उतने मात्र को ज्ञान का क्षेत्र मानता है। मिथ्यादृष्टि जीव यही मानता और अनुभव करता है कि जीव वस्तु का परक्षेत्र रूप से ही परिणमन

होता है। परन्तु एकांतवादी जैसा कहता है वैसा तो नहीं है जैसा अनेकान्त-वादी मानता है वैसा वस्तुस्थिति है।

भावार्थ— स्याद्वादी वस्तु को साध सकता है। स्याद्वादी जीव के ज्ञान के सर्वस्व ने समस्त परद्रव्य से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप प्रदेश में सत्तारूप से परिणमन किया है। उसने ज्ञानवस्तु को सहज ही जाना है और ज्ञानवस्तु में ज्ञेय-ज्ञायकरूप आवश्यक संबंध के कारण ज्ञेय को प्रतिबिम्बरूप माना है। भावार्थ— ज्ञानमात्र जीव वस्तु परक्षेत्र को जाने यह तो सहज है (स्वभाव है) परन्तु अपने प्रदेश में है, पराये प्रदेशों में नहीं है—ऐसा मानता हुआ स्याद्वादी जीव वस्तु को साध सकता है, अनुभव कर सकता है ॥८॥

सवैया—कोऊ सठ कहै जेतो ज्ञेयरूप परमाण,
तेतो ज्ञान तातैं कछू अधिक न और है।
तिहूं काल परक्षेत्र व्यापि परणम्यो मानै,
आपा न पिछानै ऐसो मिथ्यादृग ढोर है॥
जैनमती कहै जीव सत्ता परमाण ज्ञान,
ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिर मौर है।
ज्ञान की प्रभा में प्रतिबिंबित अनेक ज्ञेय,
यद्यपि तथापि थिति न्यारी-न्यारी ठौर है॥८॥

शार्दूलविक्रीडित

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
त्तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन्
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥९॥

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता इसलिए जब ज्ञान ज्ञेय वस्तु के प्रदेशों को जान रहा है उस समय ज्ञान को अशुद्ध मानता है। कहता है ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है, वह ज्ञान की पर्याय है ऐसा नहीं मानता है। स्याद्वादी इसका उत्तर देता है कि ज्ञानवस्तु अपने प्रदेशों में है—ज्ञेय के प्रदेशों को जानती है, ऐसा उसका स्वभाव है, इसमें कोई अशुद्धपना नहीं है। एकान्त-वादी मिथ्यादृष्टिजीव तत्व ज्ञान से शून्य होने के कारण तथा ज्ञानगोचर ज्ञेय के प्रदेशों में ज्ञान की सत्ता अथवा ज्ञान के प्रदेशों को मूल से नास्तिरूप

जानने के कारण, वस्तु मात्र को साधने से भ्रष्ट है, उसका अनुभव करने से भ्रष्ट है। एकान्तवादी ने ऐसी बुद्धि अपना रखी है कि पर्यायरूप ज्ञेय वस्तु के प्रदेशों को जानते हुए ज्ञान की जो परिणति ज्ञेय वस्तु की आकृतिरूप परिणमन करती है उससे रहित शुद्ध ज्ञान है इसलिए ज्ञान-वस्तु के पर्यायरूप में भी ज्ञेयाकार परिणमन का त्याग करता है। ज्ञान का चैतन्य प्रदेश स्थिर है अतः उसकी ज्ञेयरूप परिणति नहीं है, ऐसा मानता है।

भावार्थ—एकान्तवादी मानता है कि ज्ञान वस्तु ज्ञेय के प्रदेशों के जाननपने से जब रहित होती है तब शुद्ध होती है। जैसा एकान्तवादी मानता है वैसा नहीं है, जैसा स्याद्वादी मानता है, वैसा है। स्याद्वादी अनेकांतदृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता कि ज्ञानवस्तु ज्ञेय के क्षेत्र को जानती है और अपने प्रदेशों से सर्वथा शून्य है। वह ऐसा मानता है कि ज्ञानवस्तु ज्ञेय के क्षेत्र को जानती है, परन्तु ज्ञेय के क्षेत्ररूप नहीं है। स्याद्वादी मानता है कि ज्ञान ज्ञेय के क्षेत्र की आकृतिरूप परिणमन करता है तो भी ज्ञान अपने क्षेत्र में है। वह अनुभव करता है कि ज्ञान वस्तु अपने प्रदेशों में है। ज्ञान ने ज्ञेय वस्तु की आकृति रूप परिणमन किया है ऐसा जानता है तो जानो तथापि इतना ही ज्ञान का क्षेत्र नहीं है ऐसा मानता हुआ स्याद्वादी ज्ञान की पर्याय ने जो परक्षेत्र की आकृति रूप परिणमन किया है उससे भिन्न ज्ञान वस्तु के प्रदेशों का अनुभव करने में समर्थ है। इस तरह स्याद्वाद वस्तु के स्वरूप का साधक है तथा एकांतवाद वस्तु के स्वरूप का घातक है—अतः स्याद्वाद उपादेय है ॥९॥

सवैया—कोउ शून्यवादी कहै ज्ञेय के विनाश होत,
ज्ञान को विनाश होय कहो कैसे जीजिए।
तातैं जीवितव्यता की थिरता निमित्त सब,
ज्ञेयकार परिणमनि को नाश कीजिए॥

सत्यवादी कहै भैया हूजे नहीं खेद खिन्न,
ज्ञेयसौं विरचि ज्ञान भिन्न मान लीजिए।
ज्ञान की सकति साधि अनुभौ दशा अराधि,
करम को त्यागि के परम रस पीजिए॥९॥

शार्दूलविक्रीडित

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।।१०।।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि वस्तु को पर्यायमात्र मानता है द्रव्य-रूप नहीं मानता है। ज्ञेय वस्तु के अतीत-अनागत और वर्त्तमान काल संबंधी अनेक अवस्था भेद हैं उन सब को जानते हुए ज्ञान के पर्यायरूप अनेक अवस्था भेद होते हैं। उनमें ज्ञेय से संबंधित पहला अवस्था भेद विनशता है और उसके विनशने से उसकी आकृति रूप परिणमा ज्ञान की पर्याय का अवस्था भेद भी विनशता है। उस अवस्था भेद के विनशने से एकांतवादी मूल से ज्ञान वस्तु का विनाश मानता है। स्याद्वादी उसका यह समाधान करता है कि ज्ञान वस्तु अवस्था भेद के विचार से तो विनाश को प्राप्त होती है परन्तु द्रव्य के स्वरूप के विचार से अपनी जाननपने की अवस्था में शाश्वत है—न उपजती है और न विनशती है। एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को साधने में अवश्य ही भ्रष्ट है क्योंकि वह वस्तु के अस्तित्व को जानने में अति ही शून्य है। एकांतवादी ऐसी अनुभव रूप प्रतीति करता है कि ज्ञेय वस्तु की अवस्था का जानपना मात्र ज्ञान है उससे भिन्न कुछ सत्तारूप ज्ञानवस्तु नहीं है, अंशमात्र भी नही है। कभी पहले अवसर में ज्ञान की पर्याय ज्ञेयाकार की आकृतिरूप हुई थी और किसी विनाश संबंधी अवसर में वह आकृति विनाश को प्राप्त हुई तो एकांतवादी उसको जीव वस्तु का ही नाश मानता है। उसको स्याद्वादी संबोधता है। स्याद्वादी जैसा मानता है वैसा ही है। स्याद्वादी अनेकान्त अनुभवशील जीव को त्रिकालगोचर ज्ञानमात्र जीव वस्तु का अनुभव प्रगाढ़ है, दृढ़ है। वह कहता है कि समस्त ज्ञेय अथवा ज्ञेयाकार परिणमित ज्ञान की पर्याय अनेक भेदों से अनेक पर्यायरूप होती हैं और अनेक बार विनशती हैं। स्याद्वादी जीव को ज्ञानमात्र जीववस्तु की त्रिकाल शाश्वत ज्ञानमात्र अवस्था के अस्तित्व का अनुभव होता है ।।१०।।

सवैया—कोऊ क्रूर कहे काया जीव दोउ एक पिंड,
जब देह नसेगी तब ही जीव मरेगो।

छाया कोसो छल कीधो माया कोसो परपंच,
काया में समाइ फिरि कायाकों न धरेगो ॥
सुधी कहै देहसों अव्यापक सदैव जीव,
समै पाय परको ममत्व परिहरेगो ।
अपने स्वभाव आइ धारना धरा में धाइ,
आपमें मगन ह्वैके आप शुद्ध करेगो ॥

दोहा—ज्यों तन कंचुक त्यागसों, विनसै नांहि भुजंग ।
त्यों शरीर के नास तें, अलख अखंडित अंग ॥१०॥

स्रग्धरा

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन्पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजी भवन् ॥११॥

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तु को द्रव्य मात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है । ज्ञान ज्ञेय की अनेक अवस्थाओं को जानता हुआ उनकी आकृति रूप परिणमन करता है । वे सब जो ज्ञान की पर्याय हैं उन्हीं को मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का अस्तित्व मानता है । उसके समाधान के लिए कहते हैं कि ज्ञेय की आकृतियों में परिणमन करती हुई जितनी ज्ञान की पर्याय है उसमें ज्ञान का अस्तित्वपना नहीं है । एकान्तवादी का निश्चयरूप से अभिप्राय है कि ज्ञेय का आश्रय पाकर ही ज्ञान की सत्ता है ऐसे मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी के मन में स्वरूप से बाहर भ्रम उपजा है इसलिए वह वस्तु स्वरूप को साधने से भ्रष्ट है । वह अनुभव करता है कि जीवादि समस्त ज्ञेय वस्तु को जिस समय ज्ञान जानता है उसी समय ज्ञानमात्र वस्तु का अस्तित्व है । एकान्तवादी जैसा मानता है वैसी वस्तुस्थिति नहीं है, जैसी स्याद्वादी मानता है वैसी है । अनेकान्तवादी वस्तु स्वरूप के साधने में समर्थ है । स्याद्वादी ज्ञानमात्र जीव वस्तु की ज्ञेयावस्था के जानपने में नास्तिपने की प्रतीति करता है । ज्ञानमात्र जीव वस्तु अनादि से एक वस्तुरूप है, अविनश्वर है, बिना कोई उपाय किए सहज ही उसका ऐसा स्वभाव है । स्याद्वादी अनुभव

कहना है कि ज्ञानपने की शक्ति से युक्त मैं जीव वस्तु हूं— अविनश्वर ज्ञान-स्वरूप हूं ॥११॥

सवैया—कोउ दुरबुद्धि कहे पहले न हुतो जीव,
देह उपजत उपज्यो है अब आइके।
जोलों देह तोलों देह धारी फिर देह नसे,
रहेगो अलख ज्योति ज्योतिमें समाइके॥
सद्बुद्धि कहे जीव अनादि को देहधारि,
जब ज्ञानी होयगो कबहूं काल पाइके।
तबही सों पर तजि अपनो स्वरूप भजि,
पावेगो परम पद करम नसाइके॥११॥

स्रग्धरा

विश्रांतः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवन् ज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥१२॥

कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है। जितने भी समस्त ज्ञेय वस्तु की शक्ति रूप स्वभाव हैं उनको ज्ञान जानता है और जानता हुआ उनकी आकृति में परिणमन करता है। इस तरह ज्ञेय की शक्ति की आकृति रूप ज्ञान की पर्याय है उनमें ज्ञान वस्तु की सत्ता को मानता है। वह एकांतवादी जीव उससे भिन्न जो अपनी शक्ति की सत्ता मात्र है उसको नहीं मानता है। स्याद्वादी उसका समाधान करता है कि ज्ञान अपने सहज स्वभाव में समस्त ज्ञेय शक्ति को जानता है। परन्तु अपनी ज्ञान शक्ति के विचार से अस्तिरूप है। एकान्तवादी ने निश्चय किया हुआ है कि ज्ञेय वस्तु की अनेक शक्ति की आकृतिरूप परिणमन करती हुई ज्ञान वस्तु पर्याय मात्र ही है। उसने ऐसा झूठा अभिप्राय बना लिया है कि ज्ञान की पर्याय जो ज्ञेय की शक्ति की आकृति रूप है उसी ने ज्ञानवस्तु के अस्तित्वपने को अवधारण किया है। एकान्तवादी जीव ज्ञानमात्र की निज शक्ति के अनादि निधन शाश्वत प्रताप से सर्वथा शून्य है।

भावार्थ—एकांतवादी स्वरूप की सत्ता को नहीं मानता। इसका स्याद्वादी समाधान करता है। जैसा एकांतवादी मानता है, वैसा नहीं है। स्याद्वादी अर्थात अनेकान्तवादी विनाश को प्राप्त नही होता। भावार्थ—वह ज्ञानमात्र वस्तु की सत्ता को साध सकता है। अनेकान्तवादी जीव ने स्वभाव–शक्तिमात्र ज्ञानवस्तु के अस्तित्व से सम्बन्धित अनुभव दृढ़ किया है। जितने भी अपनी-अपनी शक्ति में विराजमान ज्ञेय रूप जीवादि पदार्थ हैं उनकी सत्ता की आकृति रूप जो जीव के ज्ञानगुण की पर्याय ने परिणमन किया है उससे ज्ञान मात्र की सत्ता भिन्न है ऐसा वह अनुभवता है ॥१२॥

सवैया—कोउ पक्षपाती जीव कहे ज्ञेय के आकार,
परिणयो ज्ञान ताते चेतना असत है।
ज्ञेय के नसत चेतना को नाश ता कारण,
आत्मा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है॥
पंडित कहत ज्ञान सहज अखंडित है,
ज्ञेयको आकार धरे ज्ञेयसों विरत है।
चेतना के नाश होत सत्ता को विनाश होय,
याते ज्ञान चेतना प्रमाण जीव सत है॥१२॥

शार्दूलविक्रीड़ित

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः॥१३॥

कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्य मात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। जितनी भी ज्ञेय वस्तु हैं उनकी अनन्त शक्ति हैं उनको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेय की शक्ति की आकृतिरूप परिणमन करता है। उसको देख कर एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव यह मान लेता है कि जितनी ज्ञेय की शक्ति है उतनी सब ज्ञान वस्तु ही है। इस बात का समाधान स्याद्वादी इस प्रकार करता है कि यह तो ज्ञान मात्र जीववस्तु का स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय को जाने और जानता हुआ उसकी आकृति रूप परिणमन करे। परन्तु ज्ञेय की शक्ति तो ज्ञेय में है, ज्ञान वस्तु में नहीं है।

ज्ञान की जानने रूप पर्याय है ज्ञान वस्तु की सत्ता भिन्न है। मिथ्यावादी एकांत-दृष्टि जीव हेय और उपादेय के ज्ञान से रहित स्वेच्छाचाररूप प्रवर्त्तन करता है।

भावार्थ—एकान्तवादी जीव ज्ञेय की शक्ति को ज्ञान से भिन्न नहीं मानता है। जितनी ज्ञेय की शक्ति है वह सब ज्ञान में है ऐसा मान कर ऐसी बुद्धि से प्रवर्तन करता है कि नाना शक्तिरूप ज्ञान है, ज्ञेय है ही नहीं। जितनी भी जीवादि पदार्थ रूप ज्ञेय वस्तु है उनकी शक्तिरूप गुण पर्याय अंश भेदों की सत्ता को ज्ञानमात्र जीव वस्तु में गर्भित मान कर, ऐसी प्रतीति करके, ज्ञानमात्र जीववस्तु को विपरीतरूप से अनुभव करता है। भावार्थ—समस्त द्रव्यों की शक्ति ज्ञानगोचर है और उनकी आकृतिरूप ज्ञान ने परिणमन किया है इसलिए वह सर्व शक्ति ज्ञान की ही मानता है। ज्ञेय की और ज्ञान की भिन्न सत्ता के अस्तित्व को नहीं मानता। मिथ्यावादी भिन्न सत्ता के अस्तित्व को नहीं मानता। मिथ्यावादी के कोई भाव परभाव नहीं है जिससे उसे कुछ डर हो तो वह समस्त स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इत्यादि इन्द्रियों के विषयों को तथा मन-वचन-काय और नाना प्रकार की ज्ञेय की शक्तियों को निश्चय से मानता है कि मैं शरीर हूं, मन हूं, वचन हूं, काय हूं। मैं स्पर्श-रस गंध-वर्ण-शब्द हूं इत्यादि परभावों को अपना आप जानकर प्रवर्तन करता है। इसी का समाधान स्याद्वादी करता है। जैसी मिथ्यादृष्टि एकांतवादी की मान्यता है वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। अनेकान्तवादी जीव मिथ्यात्व से रहित होकर प्रवर्तन करता है। ज्ञान वस्तु की जानने मात्र की शक्ति की उसको अत्यन्त दृढ़ प्रतीति है। स्याद्वादी जीव ऐसा मानता है कि समस्त ज्ञेय की अनेक शक्ति की आकृतियों में ज्ञान पर्याय रूप से परिणमन करता है। ज्ञानवस्तु के अस्तित्वरूप सम्बन्धी उसकी विपरीत बुद्धि नहीं है। स्याद्वादी जीव की सच्ची दृष्टि में आलोक मिला है और उसका साक्षात् अनुभव अमिट है ॥१३॥

सवैया—कोउ महामूरख कहत एक पिंड मांहि,
जहांलों अचित चित अंग लह लहे है।
जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप,
जेते भेद करम के तेते जीव कहे है॥
मतिमान कहे एक पिंड मांहि एक जीव,
ताही के अनंत भाव अंश फैलि रहे हैं।
पुद्गलसों भिन्न कर्म जोगसों अखिन्न सदा,
उपजै विनसै थिरता स्वभाव गहे है॥१३॥

शार्दूलविक्रीडित

**प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात् क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमाज्ञानं भवन् जीवति ॥१४॥**

कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है इसलिए अखण्डधारा प्रवाहरूप परिणमन कर रहे ज्ञान में जो हर समय उत्पाद और व्यय हो रहा है तो उसकी पर्यायों को विनशते देख कर जीव द्रव्य का विनाश मान लेता है। स्याद्वादी उसका समाधान करता है कि पर्याय दृष्टि से देखने से जीव वस्तु उपजती है और विनाश को प्राप्त होती है परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखो तो जीव सदा शाश्वत है। एकान्तवादी जीव ने यह जाना है कि ज्ञान गुण के अविभागप्रतिच्छेद उत्पाद और विनाशसे संयुक्त प्रवाहरूप हैं और उनके कारण हुए अनेक अवस्था भेद के जानपने के कारण हर समय में जो पर्याय का विनाश होता है उस पर्याय के साथ ही वस्तु का विनाश मानता है। ऐसी एकान्त मान्यता के कारण वह एकान्तवादी जीव शुद्ध जीव वस्तु के साधन से भ्रष्ट है। अनेकान्ती जीव उसको प्रतिबोधन करता है। जैसा एकान्तवादी कहता है वैसा एकान्तपना नहीं है। स्याद्वादी और अनेकान्तवादी जीव वस्तु को सिद्ध करने में समर्थ है। वह ज्ञान स्वरूप जीव वस्तु के द्वारा ज्ञान मात्र जीव वस्तु का सर्वकाल, शाश्वत, प्रत्यक्षरूप से आस्वादन करता अथवा अनुभव करता है। सर्वकाल एक रूप ज्ञानघनस्वभाव जिसका अमिट लक्षण है और जिसका अमिट लक्षण लोकप्रसिद्ध है, उस जीव वस्तु को स्याद्वादी जीव स्वयं अनुभव करता है ॥१४॥

**सवैया—कोउ एक क्षणवादी कहै एक पिंड मांहि,
एक जीव उपजत एक विनसत है;
जाही समै अंतर नवीन उतपति होय,
ताही समय प्रथम पुरातन वमत है॥
सरवांगवादी कहै जैसे जल वस्तु एक,
सोही जल विविध तरंगनि लसत है।**

जैसे एक ग्रातम दरब गुण पर्याय से,
अनेक भयो पं एकरूप दरसत है ॥१४

शार्दूलविक्रीडित

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परमृशंश्चिद्वस्तु वृत्तिक्रमात् ॥१५॥

कोई मिथ्यादृष्टि एकांतवादी जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यरूप मानता है पर्यायरूप नही मानता है इसलिए समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान जब ज्ञेयाकार परिणमन करता है तो एकांतवादी उसको अशुद्ध मानता है, ज्ञान की पर्याय नहीं मानता है। स्याद्वादी जीव उसका समाधान करता है कि द्रव्यदृष्टि से देखने पर ज्ञान वस्तु नित्य है तथा पर्यायदृष्टि से अनित्य है। इसलिए जिस समय समस्त ज्ञेय को जान रहा है उस समय ज्ञेय की आकृतिरूप ज्ञान की पर्याय परिणमन करता है, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, अशुद्धपना नही है। एकांतवादी ज्ञेय का ज्ञाता होकर पर्यायरूप परिणमन करता है। उत्पादरूप तथा व्यय रूप अशुद्धपने से रहित ज्ञान गुण की पर्याय से भिन्न ज्ञेय के जानपने रूप से रहित वस्तु, मात्र कूटस्थ (अटल, जड़) रहती है ऐसा कुछ विपरीतपना मान कर एकांतवादी ज्ञान को ऐसा बनाना चाहता है कि सर्व काल एक-सा रहने वाले, समस्त विकल्पों से रहित ज्ञान-वस्तु के प्रवाह रूप जीववस्तु है। उसका स्याद्वादी समाधान करता है। कोई पर्याय उपजे, कोई विनशे इस भाव को रखते हुए स्याद्वादी ज्ञानमात्र जीव द्रव्य का अविनश्वररूप से अनुभवन करता हुआ, यद्यपि पर्याय द्वारा अनित्यपना घटित होता है, तथापि ज्ञान मात्र जीव वस्तु का सर्व काल एक-सा, समस्त विकल्पों से रहित स्वाद लेता है।

भावार्थ—पर्याय द्वारा जीव वस्तु अनित्य है ऐसा स्याद्वादी अनुभव करता है ॥१५॥

सवैया—कोउ बालबुद्धि कहे ज्ञायक शकति जोलों,
तोलों ज्ञान अशुद्ध जगत मध्य जानिये।
ज्ञायक शकति काल पाय मिटि जाय जब,
तब अविरोध बोध विमल बखानिए ॥

परम प्रवीण कहे ऐसो तो न बने बात,
जैसे बिन परकाश सूरज न मानिए ।
तैसे बिन ज्ञायक शकति न कहावे ज्ञान,
यह तो न परोक्ष परतक्ष परमानिए ॥१५॥

अनुष्टुप

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥१६॥

पूर्वोक्त एकान्तवाद में जो मिथ्यादृष्टि जीवराशि मग्न हो रही थी उसको अवश्य ही पूर्वोक्त प्रकार वर्णित अनेकान्त अथवा स्याद्वाद अपने प्रताप से बलात् अंगीकार करना ही पड़ेगा ।

भावार्थ—स्याद्वाद ऐसा प्रमाण है जिसको सुनने मात्र से एकान्तवादी भी अंगीकार करता है । स्याद्वादी प्रमाणित करता है कि जीव चेतना सर्वस्व है । भावार्थ—जीव वस्तु ज्ञान मात्र है ऐसा स्याद्वादी सिद्ध कर सकता है एकान्तवादी नहीं ॥१६॥

दोहा—इहविधि आतम ज्ञान हित, स्याद्वाद परमाण ।
जाके वचन विचार सौं, मूरख होइ सुजान ॥१६॥

अनुष्टुप

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥१७॥

स्याद्वाद को कहने का आरम्भ किया था सो इतना कहने से पूर्ण हुआ । वह अनेकान्त अपने अनेकान्तपने को अनेकान्तपने के द्वारा वस्तुओं में प्रमाण करता है, जीव के स्वरूप को साधता है, वह सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत है और उसका उपदेश अमिट है ॥१७॥

दोहा—स्याद्वाद आतम दशा, ता कारन बलवान ।
शिवसाधक बाधारहित, अखै अखंडित आन ॥१७॥

॥ इति एकादशम अध्यायः ॥

द्वादश अध्याय

साध्य-साधक अधिकार

वसंततिलका

इत्याद्यनेकनिजशक्ति सुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥१॥

विद्यमान पूर्वोक्त ज्ञानमात्र जीवद्रव्य द्रव्यगुणपर्यायरूप है।

भावार्थ—जीव द्रव्य का द्रव्यपना कहा। वह जीवद्रव्य पूर्वोक्त प्रकार 'पहला विनशे तो अगला उपजे' विशेषण रूप है परन्तु 'न उपजे न विनशे' इस अंशरूप भेदपद्धति से भी प्रवर्त रहा है—ऐसा उसमें परम अचंभा है। भावार्थ—क्रमवर्ती पर्याय, अक्रमवर्ती गुण—इस प्रकार जीव वस्तु गुण-पर्यायमय है। ज्ञानमात्र जीववस्तु द्रव्यगुण पर्याय को आदि लेकर अनेक शक्तिपूर्ण है अर्थात् अस्तित्व, वस्तुत्व प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सप्रदेशत्व, अमूर्तत्व रूप है। वह यद्यपि अनन्त गणना रूप द्रव्य की सामर्थ्य से सर्वकाल भिन्नावस्थ है तथापि अपने ज्ञानमात्रभाव को नहीं त्यागती है। भावार्थ—जो गुण अथवा पर्याय है वह सर्व चेतनारूप है इसीलिए चेतनामात्र जीव वस्तु है, प्रमाण है। भावार्थ—पूर्व में ऐसा कहा था कि उपाय अर्थात् जीववस्तु की प्राप्ति का साधन और उपेय अर्थात् साध्य वस्तु को कहेंगे। सो उसमें प्रथम ही साध्य रूप वस्तु का स्वरूप कहा, अब साधन कहते हैं ॥१॥

सवैया—जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरुलघु,
अभोगी अमूरतीक परदेशवंत है।

उतपतिरूप नाशरूप अविचलरूप
रतनत्रयादि गुण भेद सों अनंत है ॥
सोई जीव दरब प्रमाण सदा एकरूप,
ऐसे सुद्ध निश्चय स्वभाव निरंतर है ।
स्यादवाद मांहि साध्यपद अधिकार कह्यौ,
अब आगे कहिवे को साधक सिद्धंत है ॥

दोहा—साध्य सुद्ध केवल दशा अथवा सिद्ध महंत ।
साधक अविरत आदि बुध छीनमोह परयंत ॥१॥

वसंततिलका

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेववस्तु
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥२॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो अनादि काल से कर्मबंध संयुक्त थे साम्प्रत सकल कर्मों का विनाश कर मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं । वे केवली के कहे हुए मार्ग पर ही चलते हैं । उस मार्ग का उल्लंघन कर अन्य मार्ग पर नहीं चलते हैं । जो प्रमाण है ऐसे अनेकान्तरूप वस्तु के उपदेश से उनका ज्ञान निर्मल हुआ है, उसकी सहायता पाकर वे जीवद्रव्य के द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप स्वरूप को स्याद्वाद से मिले हुए लोचन से साक्षात् प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं ॥२॥

कवित्त—ज्ञानदृष्टि जिन्ह के घट अंतर, निरखै द्रव्य सुगुण परजाय ।
जिन्हके सहज रूप दिन दिन प्रति, स्याद्वाद साधन अधिकाय ।
जे केवलि प्रणीत मारग मुख, चित्त चरण राखै ठहराय ।
ते प्रवीण करि छीण मोहमल, अविचल होंहि परमपद पाय ॥२॥

वसंततिलका

ये ज्ञानमात्र निज भावमयीमकंपां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।

ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥३॥

शुद्ध स्वरूप के अनुभव गर्भित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी कारण रत्नत्रयरूप जिनका आत्मा परिणमा है वे जीव सकल कर्मकलंक से रहित मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। वे 'चेतना है सर्वस्व जिसका' ऐसे जीवद्रव्य के निर्विकल्प अनुभव रूप मोक्ष की कारणरूप अवस्था को प्राप्त होते है अर्थात् एकाग्र होकर उस भूमिरूप परिणमते है जो भूमि निर्द्वंदरूप सुखगर्भित है और अनन्तकाल भ्रमण करते हुए काललब्धि को पाकर उनका मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम मिट गया है।

भावार्थ—ऐसा जीव मोक्ष का साधक होता है। कहे हुए अर्थ को दृढ़ करते हैं—जिनको जीववस्तु का अनुभव नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभवरूप अवस्था को पाये बिना चतुर्गति संसार में रुलते हैं। भावार्थ—शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा कोई मोक्ष मार्ग नहीं है ॥३॥

सवैया—चाक सो फिरत जाको ससार निकट आयो,
पायो जिन्ह सम्यक्त्व मिथ्यात्व नाश करिके ।
निरद्वंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन्ह,
कीनी मोक्ष कारण अवस्था ध्यान धरिके ॥
सोही शुद्ध अनुभौअभ्यासी अविनाशी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके ।
मिथ्यामति अपनो स्वरूप न पिछाने तातें,
डोले जग जाल में अनन्त काल भरिके ॥३॥

वसन्ततलिका

स्याद्वाद कौशल सुनिश्चलसंयमभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥४॥

उसी जाति का जीव प्रत्यक्ष शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप अवस्था के अवलम्बन के योग्य है अर्थात् ऐसी अवस्था रूप परिणमने का पात्र है जो

कोई सम्यग्दृष्टि जीव 'द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप वस्तु के अनुभव का विपरीतपने से रहित वस्तु जिस प्रकार है उस प्रकार से अंगीकार तथा समस्त रागादि अशुद्ध परिणति का त्याग'—इन दोनों की सहायता से जीव के शुद्ध स्वरूप को निरन्तर अखण्ड धाराप्रवाह रूप अनुभवता है तथा अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव में ही सर्वकाल एकाग्ररूप से तल्लीन है। शुद्ध जीव के स्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग है। शुद्ध स्वरूप के अनुभव बिना जो कोई क्रिया है वह सर्व मोक्षमार्ग से शून्य है। रागादि अशुद्ध परिणाम के त्याग बिना जो कोई शुद्ध स्वरूप का अनुभव होना कहता है वह समस्त झूठा है अनुभव नहीं है। कुछ ऐसा ही अनुभव का भ्रम है कारण कि शुद्ध स्वरूप का अनुभव रागादि परिणाम को मेट कर होता है। ऐसा है जो ज्ञाननय तथा क्रियानय का परस्पर अत्यन्त मित्रपना उसका विवरण-शुद्ध स्वरूप का अनुभव रागादि अशुद्ध परिणति को मेट कर होता है और रागादि अशुद्ध परिणति का विनाश शुद्ध स्वरूप के अनुभव को लिए हुए है। सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों की मैत्री का पात्र हुआ है अर्थात् ज्ञाननय तथा क्रियानय का एक स्थानक है।

भावार्थ—दोनों नयों के अर्थ से विराजमान है ॥४॥

सवैया—जे जीव दरब रूप तथा परयाय रूप,
दोउ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत हैं।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषै सौं विमुख ह्वै विरागता बहत हैं॥
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्य भाव दोउ भावनि कौं,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत हैं।
तेई ज्ञानक्रिया के अराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत हैं ॥४॥

वसन्ततिलका

चित्पिण्डचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भर सुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥५॥

पूर्वोक्त जीव को अवश्य ही सकल कर्म का विनाश कर जीव पदार्थ प्रगट होता है। अनन्त चतुष्टयरूप होता है। वह जीवपदार्थ सर्वकाल एकरूप

केवलज्ञान व केवलदर्शन का तेजपुञ्ज है, ज्ञानपुञ्ज के प्रताप की एकरूप परिणति ऐसा जो प्रकाशस्वरूप उसका निधान है और रागादि अशुद्ध परिणति को मेट कर होने वाले शुद्धस्वरूप परिणाम की बार-बार होने वाली शुद्धस्वरूप परिणति का उसमें साक्षात् उद्योत हुआ है।

भावार्थ : जिस प्रकार रात्रि सम्बन्धी अन्धकार के मिटने पर दिवस उद्योतस्वरूप प्रगट होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व रागद्वेष रूप अशुद्ध परिणति को मेटकर शुद्धत्व परिणाम विराजमान जीवद्रव्य प्रगट होता है और द्रव्य के परिणाम रूप अतीन्द्रिय सुख के कारण आकुलता से रहितपने से जिसका सर्वस्व सर्वकाल एकरूप है और अमिट है ॥५॥

दोहा : विनसि अनादि अशुद्धता, होइ शुद्धता पोख।
ता परिणति को बुध कहैं, ज्ञान क्रिया सौं मोख॥

सवैया—जाके घट अन्तर मिथ्यात अन्धकार गयो,
भयो परकाश शुद्ध समकित भान को।
जाकी मोह निद्रा घटी ममता पलक फटी,
जाने निज मरम अवाची भगवान को।
जाको ज्ञान तेज बग्यो उद्दिम उदार जग्यो,
लग्यो सुख पोष समरस सुधा पान को।
ताही सुविचक्षण को संसार निकट आयो,
पायो तिन मारग सुगम निरवान को॥५॥

वसन्ततिलका

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥६॥

सर्वकाल एक रूप से प्रगट जो विद्यमान जीवपदार्थ है वह एक अनुभवरूप प्रगट होओ। पूर्वोक्त विधि से 'मैं शुद्ध जीवस्वरूप हूं' ऐसा अनुभवरूप प्रगट होने पर अनेक अन्य विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? वे अन्य समस्त भाव मोह-राग-द्वेष-बंध के कारण हैं, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है—ऐसे अनेक पक्षों में पड़ने वाले हैं अर्थात् अपने-अपने पक्ष को कहने रूप अनेक विकल्पों वाले हैं।

भावार्थ—ऐसे विकल्प जितने काल तक होते हैं उतने काल तक शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं होता। शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने पर ऐसे विकल्प विद्यमान ही नहीं होते, विचार किसका किया जाये ? यह शुद्ध जीव सर्वकाल उद्योतस्वरूप है, द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप से उसका प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र स्वरूप प्रगट हुआ है ॥६॥

सवैया जाके हिरदे में स्याद्वाद साधना करत,
शुद्ध आतम को अनुभौ प्रगट भयो है।
जाके संकलप विकलप के विचार मिटि,
सदाकाल एकीभाव रस परिणयो है।
जाने बंध विधि परिहार मोक्ष अंगीकार,
ऐसो सुविचार पक्ष सोउ छांडि दयो है।
जाको ज्ञान महिमा उद्योत दिन दिन प्रति,
सोई भवसागर उलंघि पार गयो है ॥६॥

वसन्ततिलका

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंडयमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-
मेकान्तशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥७॥

जिस कारण से मैं ज्ञानमात्र प्रकाश पुञ्ज हूं अखण्डित प्रदेश हूँ, किसी कारण से अखण्ड नहीं हुआ हूं सहज ही अखण्ड रूप हूँ, समस्त विकल्पों से रहित हूँ, सर्वथा प्रकार सर्व पर द्रव्यों से रहित हूं और अपने स्वरूप से सर्वकाल में अन्यथा नहीं हूँ—ऐसा चैतन्यस्वरूप मैं हूं क्योंकि यह जीववस्तु द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ऐसे अनेक विकल्प रूप लोचनों के द्वारा अनेकरूप देखा हुआ तो खण्ड-खण्ड होकर मूल से नाश को प्राप्त होता है।

प्रश्न—इतने नय एक में कैसे घटते हैं ?

उत्तर—जीवद्रव्य ऐसा ही है कि अस्तिपना, एकपना, अनेकपना, ध्रुवपना, अध्रुवपना इत्यादि अनेक उसमें गुण हैं और उन गुणों का द्रव्य से अभिन्नपना है अर्थात् उन रूप ही जीवद्रव्य है, एक नय एक शक्ति को कहता है किन्तु अनन्त शक्तियां हैं इस कारण एक-एक नय करते हुए अनन्त

नय होते हैं। ऐसा करने हुए बहुत विकल्प उपजते हैं, जीव का अनुभव खो जाता है। इसलिए निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु अनुभव करने योग्य है ॥७॥

सवैया—अस्तिरूप नास्ति अनेक एक थिर रूप,
अथिर इत्यादि नान रूप जीव कहिये।
दीसे एक नय को प्रतिपक्षी न अपर दूजी,
न को न दिखाय वाद विवाद में रहिये॥
थिरता न होय विकलप की तरंगनि में,
चंचलता बढ़े अनुभौ दशा न लहिये।
ताते जीव अचल अबाधित अखण्ड एक,
ऐसो पद साधिके समाधि सुख गहिये॥७॥

गद्य

न द्रव्येण खंडयामि न क्षेत्रेण खंडयामि न कालेन खंडयामि।
न भावेन खंडयामि सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रः भावोऽस्मि ॥८॥

मैं वस्तुस्वरूप हूँ, चेतनामात्र ही मेरा सर्वस्व है, समस्त भेद विकल्पों से रहित हूँ, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रूप उपाधि से रहित हूँ। जीव स्वद्रव्यरूप है—ऐसे अनुभवने पर भी मैं अखण्डित हूँ। जीव स्वकालरूप है—ऐसे अनुभवने पर भी अखण्डित हूँ। जीव स्वभावरूप है—ऐसे अनुभवने पर भी अखण्डित हूँ।

भावार्थ--एक जीव वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप चार प्रकार के भेदों द्वारा कही जाती है तथापि चार सत्ता नहीं हैं, सत्ता एक है। दृष्टान्त—चार सत्ता इस प्रकार से नहीं है जिस प्रकार एक आम्रफल चार प्रकार है, इसमें कोई अंश रस है, कोई अंश छिलका है, कोई अंश गुठली है, कोई अंश मीठा है, उसी प्रकार एक जीववस्तु में ऐसा नहीं है कि कोई अंश जीवद्रव्य है, कोई अंश जीव क्षेत्र है कोई अंश जीवकाल है कोई अंश जीवभाव है। ऐसा मानने पर सर्व विपरीत होता है। इस कारण इस प्रकार है कि जैसे एक आम्रफल स्पर्श रस गंध वर्ण विराजमान पुद्गल का पिण्ड है, स्पर्शमात्र से विचारने पर स्पर्श मात्र है, गंधमात्र से विचारने पर गंध मात्र है और वर्ण मात्र से विचारने पर वर्ण मात्र है वैसे ही एक जीववस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव विराजमान है इसीलिए स्वद्रव्यरूप से विचारने पर स्वद्रव्यमात्र है, स्वक्षेत्ररूप से विचारने पर स्वक्षेत्रमात्र है, स्वकालरूप से

विचारने पर स्वकालमात्र है व स्वभावरूप से विचारने पर स्वभावमात्र है। इस कारण ऐसा कहा कि जो वस्तु है वह अखण्डित है। अखण्डित शब्द का ऐसा अर्थ है ॥८॥

सवैया—जैसे एक पाको आम्रफल ताके चार अंश,
रस जाली गुठली छीलक जब मानिये।
ये तो न बने पै ऐसे बने जैसे वह फल,
रूप रस गन्ध फास अखण्ड प्रमानिये॥
तैसे एक जीव को दरब क्षेत्र काल भाव,
अंश भेद करि भिन्न-भिन्न न बखानिये।
द्रव्यरूप क्षेत्ररूप कालरूप भावरूप,
चारों रूप अलख अखण्ड सत्ता मानिये॥८॥

शालिनी

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेय ज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्, ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः॥९॥

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध के ऊपर बहुत भ्रान्ति चलती है सो कोई ऐसा समझेगा कि जीव वस्तु ज्ञायक व पुद्गल से लेकर भिन्न रूप— छः द्रव्य पर्यन्त सब ज्ञेय है। सो ऐसा तो नहीं है। जैसा यहाँ कहते हैं वैसा है—मैं जो कोई चेतना सर्वस्व ऐसा वस्तुरूप हूँ वह मैं ज्ञेयरूप हूँ परन्तु 'अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह का जानपना मात्र' ऐसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ।

भावार्थ—इस प्रकार है कि मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय—ऐसा तो नहीं है। बल्कि ज्ञान अर्थात् जानपनारूप शक्ति, ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य शक्ति और ज्ञाता अर्थात् अनेक शक्ति विराजमान वस्तुमात्र—ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूपमात्र है, मैं ऐसा ज्ञेय रूप हूँ। भावार्थ—इस प्रकार है कि मैं अपने स्वरूप को वेद्य वेदक रूप से जानता हूँ इसलिए मेरा नाम ज्ञान। मैं आप अपने द्वारा जानने योग्य हूँ इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्ति रूप हूँ इसलिए मेरा नाम ज्ञाता—ऐसा नाम भेद है, वस्तु भेद नहीं है। जीव ज्ञायक है और जीव ज्ञेय रूप है—ऐसा जो वचन भेद उससे मैं भेद को प्राप्त होता हूँ। भावार्थ—वचन का भेद है। वस्तु का भेद नहीं है॥९॥

सवैया—कोउ ज्ञानवान कहे ज्ञान तो हमारो रूप,
ज्ञेय षट्द्रव्य सो हमारो रूप नाहीं है।
एक नै प्रमाण ऐसे दूजी अब कहूं जैम,
सरस्वती अक्खर अरथ एक ठांही है॥
तैसे ज्ञाता मेरो नाम ज्ञान चेतना बराम,
ज्ञेय रूप सकति अनंत मुझ पांही है।
ता कारन वचन के भेद भेद कहे कोउ,
ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय को विलास सत्ता मांही है॥

चौपाई—स्व-पर प्रकाशक शकति हमारी, ताते वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेय दशा दुविधा परकाशी, निजरूपा पररूपा भासी॥

दोहा—निजस्वरूप आतम शकति, पर रूप पर वस्त।
जिन्ह लखि लीनो पेच यह, तिन्हें लखि लियो समस्त॥९॥

पृथ्वी

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहृतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥१०॥

इस शास्त्र का नाम नाटक समयसार है इसलिए जिस प्रकार नाटक में एक भाव अनेक रूप में दिखाया जाता है उसी प्रकार एक जीवद्रव्य अनेक भावों द्वारा साधा जाता है मेरा ज्ञानमात्र जीवपदार्थ कर्मसंयोग से रागादि विभावरूप परिणति से देखने पर अशुद्ध है—ऐसा आस्वाद आता है पर ऐसा एकान्त नहीं है। ऐसा भी है कि वह एक वस्तु मात्र रूप देखने पर शुद्ध है—पर ऐसा भी एकान्त नहीं है। अशुद्ध-परिणतिरूप तथा वस्तुमात्ररूप एक ही बार में देखने पर वह अशुद्ध भी है शुद्ध भी है—इस प्रकार दोनों विकल्प घटित होते हैं। स्वभाव से ऐसा ही है तो भी सम्यग्दृष्टि जीवों की तत्त्वज्ञानरूप जो बुद्धि है वह संशयरूप नहीं होती।

भावार्थ—जीव का स्वरूप शुद्ध भी है, अशुद्ध भी है। शुद्ध-अशुद्ध भी है—ऐसा कहने पर अवधारण करने में भ्रम को स्थान है तथापि जो स्याद्वादरूप वस्तु का अवधारण करते हैं उनके लिए सुगम है। भ्रम उत्पन्न

नहीं होता है। जीव वस्तु तो परस्पर मिली हुई स्वानुभवगोचर जीव की अनेक शक्तियों का समूह है और सर्वकाल उद्योतमान है ॥१०॥

सवैया—करम अवस्था में अशुद्धसो विलोकियत,
करम कलंक सों रहित शुद्ध अंग है।
उभै नय प्रमाण समकाल शुद्धाशुद्ध रूप,
ऐसो पर्यायधारी जीव नानारंग है॥
एक ही समै में त्रिधारूप पै तथापि याकी,
अखण्डित चेतना शकति सरबंग है।
यहै स्याद्वाद याको भेद स्याद्वादी जानै,
मूरख न मानै जाको हियो दृग-भंग है ॥१०॥

पृथ्वी

इतोगतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इत परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥११॥

अहो! जीववस्तु की अनेकान्त स्वरूप ऐसी आत्मा के गुणस्वरूप लक्ष्मी अचम्भा उपजाती है। वह जीव वस्तु पर्याय दृष्टि से देखने पर अनेकतारूप भाव को प्राप्त हुई है, द्रव्य रूप से देखने पर सदा ही एक है, ऐसी प्रतीति को उत्पन्न करती है। 'समय-समय प्रति अखण्ड धाराप्रवाह रूप परिणमती है' ऐसी दृष्टि से देखने पर वह विनशती है, उपजती है। 'सर्वकाल एक रूप है' ऐसी दृष्टि से देखने पर सर्वकाल अविनश्वर है ऐसा विचार करने पर शाश्वत है। वस्तु को प्रमाण दृष्टि से देखने पर प्रदेशों से लोक प्रमाण है, ज्ञान से ज्ञेय प्रमाण है। निज प्रमाण की दृष्टि से देखने पर अपने प्रदेशमात्र प्रमाण है ॥११॥

सवैया—निहचै दरब दृष्टि दीजे तब एक रूप,
गुण परयाय भेद भावसौं बहुत हैं।
असंख्य परदेश संजुगत सत्ता प्रमाण,
ज्ञान की प्रभा सों लोकाऽलोकमानजुत है॥

परजै तरंगनि के अंग छिन भंगुर हैं,
चेतना सकति सों अखंडित अचल है।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार,
जाकी मौज महिमा अपार अद्‌भुत है ॥११॥

पृथ्वी

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्‌भुतादद्‌भुतः ॥१२॥

जीवद्रव्य की स्वरूप की महिमा सबमें उत्कृष्ट है। वह आश्चर्य से आश्चर्यरूप है। विभावपरिणाम शक्ति रूप विचारने पर मोह-राग-द्वेष का उपद्रव होकर वह स्वरूप से भ्रष्ट हो परिणमता है ऐसा प्रगट ही है। जीव के शुद्ध स्वरूप का विचार करने पर वह चेतना मात्र स्वरूप है, रागादि अशुद्धपना विद्यमान ही नहीं है। अनादिकर्मसंयोग रूप परिणमा है इस कारण संसार चतुर्गति में अनेक बार परिभ्रमण है। जीव के शुद्ध स्वरूप का विचार करने पर जीववस्तु सर्वकाल मुक्त है ऐसा अनुभव में आता है। 'जीव का स्वभाव स्व-पर ज्ञायक है' ऐसा विचार करने पर समस्त ज्ञेय वस्तु की अतीत अनागत वर्तमान कालगोचर पर्याय एक समय मात्र काल में ज्ञान में प्रतिबिम्बरूप है। वस्तु के स्वरूप सत्तामात्र का विचार करने पर शुद्ध ज्ञानमात्र शोभित होता है।

भावार्थ—व्यवहारमात्र से ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है, निश्चय से नहीं जानता है अपना स्वरूपमात्र है क्योंकि ज्ञेय के साथ व्याप्य-व्यापक रूप नहीं है ॥१२॥

सवैया—विभाव शकति परणति सों विकल दीसे,
शुद्धचेतना विचार तें सहज संत है।
करम संयोग सों कहावे गति को निवासी,
निहचै स्वरूप सदा मुकत महंत है॥
ज्ञायक स्वभाव धरै लोकालोक परकासी,
सत्ता परमाण सत्ता परकाशवन्त है।

सो है जीव जानत जहान कौतुक महान,
जाकी कीरति कहां न अनादि अनन्त है ॥१२॥

मालिनी

जयति सहजतेजः पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥१३॥

अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र जीववस्तु सर्वकाल में जयवन्त प्रवर्तो।

भावार्थ—वह साक्षात् उपादेय है। द्रव्य के स्वरूप भूत केवलज्ञान में ज्ञेय रूप से मग्न समस्त ज्ञेयवस्तु के कारण उस जीववस्तु में अनेक प्रकार पर्यायभेद उत्पन्न हुआ है तो भी वह एक ज्ञानमात्र जीववस्तु है। चेतनास्वरूप की अनन्त शक्ति से वह समग्र है और अनन्त काल तक शाश्वत रहने वाले वस्तुस्वरूप की उसे प्राप्ति हुई है और ज्ञानावरणकर्म का विनाश होने पर उसका नियमित केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हुआ है। भावार्थ—परमात्मा साक्षात् निरावरण है ॥१३॥

सवैया—पंच परकार ज्ञानावरण को नाश करि,
प्रगटी प्रसिद्ध जग मांहि जगमगी है।
ज्ञायक प्रभा में नाना ज्ञेय की अवस्था धरि,
अनेक भई पै एकता के रस पगी है॥
याही भांति रहेगी अनन्तकाल परयंत,
अनन्त शकति फेरि अनंत सों लगी है।
नरदेह देवल में केवल स्वरूप शुद्ध,
ऐसी ज्ञानज्योति की सिखा समाधि जगी है ॥१३॥

मालिनी

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद्ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥१४॥

प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान 'अमृतचन्द्रज्योति' प्रगट हुई। 'अमृतचन्द्र-ज्योति पद के दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ—मोक्ष रूप चन्द्रमा का प्रकाश प्रगट हुआ अर्थात् 'शुद्ध जीवस्वरूप मोक्षमार्ग' ऐसे अर्थ का प्रकाश हुआ। दूसरा अर्थ—अमृतचंद्र नाम है टीका के कर्त्ता आचार्य का सो उनकी बुद्धि का प्रकाश रूप शास्त्र सम्पूर्ण हुआ। शास्त्र को आशीर्वाद कहते हैं· नहीं है कोई शत्रु जिसका ऐसा अबाधित स्वरूप सर्वकाल सर्वप्रकार परिपूर्णप्रताप-संयुक्त प्रकाशमान होओ। यह शास्त्र पूर्वा पर विरोधरूप मल से रहित है, अर्थ से गम्भीर है तथा भ्रान्ति को इसने मूल से उखाड़ दिया है।

भावार्थ इस शास्त्र में शुद्ध जीव का स्वरूप निःसन्देहरूप से कहा है। ज्ञानमात्र शुद्धजीव के द्वारा शुद्धजीव में शुद्ध जीव को निरन्तर अनुभव-गोचर करते हुए आत्मा का सर्वकाल एकरूप चेतना ही स्वरूप है। नाटक समयसार में अमृतचन्द्र सूरि द्वारा कहा हुआ साध्य-साधक भाव सम्पूर्ण हुआ। नाटक समयसार शास्त्रपूर्ण हुआ। यह आशीर्वाद वचन है ॥१४॥

सवैया—अक्षर अरथ में मगन रहे सदा काल,
महासुखदेवा जैसी सेवा कामगवि की।
अमल अबाधित अलख गुण गावना है,
पावना परम शुद्ध भावना है भवि की॥
मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,
जैसी उभै जामलों किरण दीपे रवि की।
ऐसी है अमृतचन्द्र कला त्रिधारूप धरे,
अनुभव दशा ग्रंथ टीका बुद्धि कवि की॥

दोहा—नाम साध्य साधक कह्यो, द्वार द्वादशम ठीक।
समयसार नाटक सकल, पूरण भयो सटीक॥१४॥

शार्दूलविक्रीड़ित

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किंचित्किल ॥१५॥

निश्चय से जिसका अवगुण कहेंगे ऐसा जो कुछ एक पर्यायार्थिक नय

से मिथ्यादृष्टि जीव के अनादिकाल से लेकर नाना प्रकार की भोगसामग्री को भोगते हुए मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति के कारण जो कर्म का बन्ध अनादिकाल से होता था सो सम्यक्त्व की उत्पत्ति से लेकर शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभव में समाता हुआ मिट गया सो मिटने पर कुछ है ही नहीं, जो था सो रहा। उस क्रिया के फल के अवगुण कहते हैं—उस क्रिया के फल के कारण ही 'यह आत्मस्वरूप—यह परस्वरूप' ऐसा अनादिकाल से लेकर द्विविधापन हुआ।

भावार्थ—मोह-राग-द्वेष जीव की स्वचेतनापरिणति है ऐसा माना। और उस क्रियाफल के कारण शुद्ध जीववस्तु के स्वरूप में अन्तराय हुआ। भावार्थ जीव का स्वरूप तो अनन्त चतुष्टयरूप है पर उस क्रिया फल के कारण जीव ने अनादि से लेकर अनन्त काल गया, अपने स्वरूप को नहीं प्राप्त किया व चतुर्गति संसार का दुःख प्राप्त किया। उस क्रिया के फल से अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम हुआ और ऐसा होने पर 'जीव रागादि परिणामों का कर्त्ता है और भोक्ता है' इत्यादि अनेक विकल्प उत्पन्न हुए। और उस क्रिया के फल के कारण जीव ने आठ कर्मों के उदय का स्वाद भोगा।

भावार्थ—इस प्रकार है कि आठ ही कर्मों के उदय से जीव अत्यन्त दुःखी है सो भी क्रिया के फल के कारण ही है ॥१५॥

दोहा—अब कवि कुछ पूरब दशा, कहे आप सों आप।
सहज हर्ष मन में धरे, करे न पश्चात्ताप॥

सवैया—जो मैं आपा छांडि दीनो पररूप गहि लीनो,
कीनो न बसेरो तहां जहां मेरो थल है।
भोगनि को भोगी ह्वै करम को करता भयो,
हिरदै हमारे राग द्वेष मोह मल है॥
ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल,
सो तो मेरे क्रिया की ममता ही को फल है।
ज्ञानदृष्टि भासी भयो क्रिया सों उदासी वह,
मिथ्यामोह निद्रा में सुपन को सो फल है॥१५॥

उपजाति

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-र्व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥१६॥

ग्रन्थकर्त्ता का नाम अमृतचन्द्रसूरि है। यह नाटक समयसार उनका कर्त्तव्य नहीं है।

भावार्थ—इस प्रकार है कि नाटक समयसार ग्रन्थ की टीका के कर्त्ता अमृतचन्द्र नामक आचार्य प्रगट है तथापि वे महान हैं, बड़े हैं, संसार से विरक्त हैं इसलिए ग्रन्थ करने का अभिमान नहीं करते है। द्वादशांग-रूप सूत्र अनादि निधन है, किसी ने किया नहीं है ऐसा जान कर अमृत-चन्द्रसूरि ने अपने को ग्रंथ का कर्ता नहीं माना है कारण कि शुद्ध जीव-स्वरूप की नाटक समसार नामक ग्रन्थरूप व्याख्या ऐसी वचनात्मक शब्दराशि में की गई है जिसमें स्वयं अर्थ को सूचित करने की शक्ति है और जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अथवा हेय उपादेय रूप निश्चय ही प्रकाशमान हुआ है ॥१६॥

दोहा—अमृतचन्द्र मुनिराजकृत, पूरण भयो गरंथ।
समयसार नाटक प्रगट, पंचम गति को पंथ ॥१६॥

॥ इतिश्री अमृतचंद्र कृत समयसार की राजमल्लीय टीका समाप्त ॥